Chapter - 5

पंचम अध्याय

☀ अध्याय - 5 ☀

राकेश के नाटकों के प्रमुख प्रस्तुतीकरण एवं प्रस्तुति समीक्षाएँ

(i) मोहन राकेश के नाटकों के विविध प्रदर्शन :

राकेश के अनुसार कोई भी नाटक तभी सफल हो सकता है जब उसमें रंगमंच पर अभिनीत होने की सम्भावनाएँ निहित हों। अतः राकेश के नाटकों में निहित मंचन-संभावनाओं को खोजने और उन्हें दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करने का काम अनेक प्रतिभावान कलाकारों ने किया है। नित-नई व्याख्याओं, प्रस्तुति शैलियों और मंच परिकल्पनाओं ने मूल नाट्यालेखों को कई-कई रूपों-रंगों और आकारों में पुनर्सजित किया है।

आषाढ़ का एक दिन मोहन राकेश का पहला प्रकाशित नाटक है। इसके अनेक प्रस्तुतीकरण हो चुके हैं। सभी मंचित प्रस्तुतियों को चिन्हित करना अत्यंत मुश्किल है, परन्तु इस प्रत्यक्ष सीमा के बावजूद रंगमंचीय इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रस्तुतीकरणों की सूची निम्नलिखित हैं :

हिन्दी :

क्रमांक	नाट्य संस्थाएँ	निर्देशक	वर्ष
1	राष्ट्रीय नाट्य परिषद (रंगमंच), लखनऊ	रमेश पाल / श्रीवास्तव	1958
2	नाट्य केन्द्र, इलाहाबाद	लक्ष्मीनारायण लाल	1959
3	अनामिका, कलकत्ता	श्यामानंद जालान	1960
4	राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली	इब्राहिम अल्काजी	1962
5	थियेटर यूनिट, बम्बई	सत्यदेव दुबे	1964
6	एमेच्योर आर्टिस्ट एसोसियेशन, जयपुर	मोहन महर्षि	1968
7	यांत्रिक (इंडियन नेशनल थियेटर), दिल्ली	मोहन महर्षि	1968
8	युवक कल्याण एवं सांस्कृतिक परिषद, सागर	विवेक दत्त झा	1972
9	दिशान्तर, दिल्ली	ओम शिवपुरी	1973
10	युवा मंत्रालय, मॉरीशस	मोहन महर्षि	1973
11	रूपांतर, गोरखपुर	गिरीश रस्तोगी	1973

12	अमिनेत, चण्डीगढ़	एन.सी.ठाकुर	1974
13	द ड्रैमेटिक क्लब, आई.आई.डी. दिल्ली	सुधा शिवपुरी	1974
14	दर्पण, लखनऊ	उर्मिल कुमार थपलियाल	1974
15	सेवा मंदिर, उदयपुर	भानु भारती	1975
16	यौवन, दिल्ली	बृज मोहन शाह	1975
17	कला संगम, पटना	सतीश आनन्द	1975,76,78
18	चतुरंग, पटना	दीपांकर दासगुप्ता	1975
19	मिलन, जबलपुर	राम गोपाल बजाज	1975
20	संगीत कला मंदिर, कलकत्ता	बद्री तिवारी	1976
21	जनवादी रंगमंच, चण्डीगढ	कुमार वर्मा	1976
22	सम्वेदना, देहरादून	सतीश कुमार चाँद, बन्सी कौल	1976
23	कला त्रिवेणी, जोधपुर	के.के. माथुर	1977
24	मिरांडा हाउस, दिल्ली	राम गोपाल बजाज, रवि वर्मा	1978
25	स्टूडियो-1 दिल्ली	अमाल अल्लाना	1981
26	श्री राम सेंटर, रंगमंडल, दिल्ली	राजिन्दर नाथ	1983

अंग्रेजी - (अनुवाद : सराह ऐंस्ले)

क्रमांक	नाट्य संस्था	निर्देशक	वर्ष
1	मेरी वाशिंगटन कॉलेज, वर्जीनिया	जाय माइकेल	1968
2	लेडी इर्विन कॉलेज, दिल्ली	अवीक घोष	1970
3	थियेटर ग्रुप, बम्बई	डैरेक जैफ़रीज़	1971
4	वुमंस क्रिश्चियन कॉलेज, मद्रास	अम्मू मैथ्यू	1971
5	रूचिका, दिल्ली	फैज़ल अल्काजी	1972
6	द ड्रैमेटिक सर्कल, हैदराबाद	बॉब मार्श	1974
7	थियेटर ग्रुप, मुंबई	अलीक पद्मसी	1972

कन्नड़ - (अनुवाद : सिद्धलिंग पट्टण शेट्टी)

1	नीनासम् हेग्गड्यू (कर्नाटक)	के.वी.सुब्बाण्णा	1972
2	कन्नड़ साहित्य संघ, बैंगलूर	नागेश	-
3	तिरूगाता	के.वी. अक्षर	1991

मराठी - (अनुवाद : विद्या बापट)

1	भरत नाट्य मंदिर, पूना	विजय कुमार चौकसे	1976
2	अहिल्या देवी माध्यमिक विद्यालय, पूना	श्रीमती विद्या बापट	1980

असमिया

क्रमांक	नाट्य संस्था	निर्देशक	वर्ष
1	न्यू आर्ट प्लेयर्स, गुवाहाटी	देव कुमार नाथ	1976
2	डिब्रूगढ़ असम (अनु.नि.महंता बैजबरूआ)	मुनीन मुइया	1990

मणिपुरी - (अनुवाद : दीनामनि सिंह)

1	कोरंस रिपर्टरी, इम्फाल	रतन थियम	1978

पंजाबी - (अनुवाद : कृष्ण द्विवेदी)

1	नाटक कला विभाग, पटियाला	राम गोपाल बजाज	1980
2	दिशान्तर, दिल्ली	राम गोपाल बजाज	1984

गुजराती

1	राष्ट्रीय कला केन्द्र, सूरत	-	-

बांग्ला

1	शौभनिक, कलकत्ता	-	-
2	चतुरंग, नई दिल्ली, शोभनिक	निर्देशक : सुशील चौधरी	1973

अन्य प्रस्तुतीकरण :

1. राज बिसारिया (लखनऊ)
2. नवल किशोर प्रसाद सिंह (गया)
3. प्राणनाथ तुगनैत (दिल्ली)
4. पी. कैम्फ़र (कानपुर)
5. मनोज भटनागर (दिल्ली)
6. सूर्यकान्त माथुर (दिल्ली)
7. श्रीमती विनोद गर्ग (रायपुर)
8. सुधांशु मोहन मीत (वाराणसी)
9. ओम प्रकाश पाण्डेय (आज़मगढ़)
10. अशोक निशेष (दिल्ली)
11. यशवंत केलकर (बड़ौदा) : भारतीय संगीत-नृत्य-नाट्य महा विद्यालय, 1981
12. डॉ. सुशीला रोहतगी (ग्वालियर)
13. रवि पाण्डेय (बिलासपुर) - सी.एम. दुबे महाविद्यालय : 1968
14. ज्योतीन्द्र सिंह सोहल (वाराणसी) : अनुपमा : 1972
15. राधेश्याम दीक्षित (कानपुर)
16. महेन्द्र सिंह चौहान (जबलपुर)
17. कीर्ति जैन (छात्र-प्रस्तुति), दिल्ली इत्यादि।
18. प्रयाग रंगमंच (इलाहाबाद - निर्देशक सत्यव्रत सिन्हा : 1965)
19. रंग-वाणी (कानपुर : निर्देशक :असित डेन्थिलस 1967)
20. सेंट ऐन्ड्रुस कॉलेज : गोरखपुर : 1968
21. अंकुर आर्ट्स : अंबाला : निर्देशक : ज्ञान चौरसिया : 1979
22. महारानी सुदर्शना छात्रा महाविद्यालय : बीकानेर : 1981
23. कल्चरल सोसायटी ऑफ राजस्थान : जयपुर : राम सहाय पारीक : 1984
24. ओ.एन.जी.सी. थियेटर, देहरादून : 1985
25. मोहन राकेश नाट्य समारोह - (N.S.D. Repertory) राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमण्डल - 1992 : राम गोपाल बजाज

राकेश का दूसरा महत्त्वपूर्ण नाटक है, लहरों के राजहंस। इसके मुख्य प्रस्तुतीकरणों की सूची निम्नलिखित है :

हिन्दी

क्रमांक	नाट्य संस्था	निर्देशक	वर्ष
1	प्रयाग रंगमंच, इलाहाबाद	सत्यव्रत सिन्हा	1963
2	अनामिका, कलकत्ता	श्यामानंद जालान	1966
3	राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली	ओम शिवपुरी	1967
4	रूपांतर, गोरखपुर	गिरीश रस्तोगी	1969
5	दिशांतर, दिल्ली	राजिन्दर नाथ	1973
6	अमिनेत, चण्डीगढ़	वीरेन्द्र मेहंदीरत्ता	1975
7	कला संगम (पटना)	सतीश आनंद	1978
8	लेडी श्री राम कॉलेज (दिल्ली)	लक्ष्मीनारायण लाल	1978
9	रुचिका, दिल्ली	फैज़ल अल्काजी	1980
10	क्लासिक थिएटर, दिल्ली	चित्रा शाह	1986
11	विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, टोकियो	इन्दुजा अवस्थी	1986
12	कमला राजा कन्या महाविद्यालय, ग्वालियर	-	1968

मणिपुरी : (अनुवाद : रतन थियम)

1	कोरस रेपर्टरी थिएटर, इम्फाल	सानाख्या ईबोतोम्बी	1980

अन्य प्रस्तुतीकरण :

1 सुनयना राव (दिल्ली) - इन्द्रप्रस्थ कॉलेज : 1970

2 उषा धवन (चण्डीगढ़) - ज्ञान आर्ट्स : 1979 (नृत्य नाटिका)

3 नीलिमा कौशल (भिलाई नगर)

4 ब्रज किशोर दीक्षित (देवास)

5 वीरेन्द्र भार्गव (दिल्ली), इत्यादि

6 पी एण्ड टी क्लब (लखनऊ)

7 भिलाई नगर, निर्देशिका, नीलिमा कौशल : 1975

8 युवा रंगमंच, राँची, अजय मलकानी : 1990

9 मोहन राकेश नाट्य समारोह, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल, 1992 - कीर्ति जैन

आधे-अधूरे :

राकेश का समकालीन जीवनानुभव पर आधारित बहुचर्चित नाटक है, आधे-अधूरे, जिसके विशिष्ट प्रस्तुतीकरणों को नीचे सूचीबद्ध किया गया है :

हिन्दी

क्रमांक	नाट्य संस्था	निर्देशक	वर्ष
1	दिशान्तर, दिल्ली	ओम शिवपुरी	1969
2	थिएटर यूनिट, बम्बई	सत्यदेव दुबे	1969
3	अनामिका, कलकत्ता	श्यामानंद जालान	1970
4	युवा संगम, जबलपुर	बलभद्र सिंह	1971
5	कला संगम, पटना	सतीश आनन्द	1970,72,79
6	द सैन्ट्रल गवर्नमेन्ट हाई पावर वैलफेयर कमेटी, चण्डीगढ़	वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता	1971
7	रूपायन, जमशेदपुर	मदन मोहन श्रीवास्तव	1972
8	जागृति, देहरादून	अवी नंदा	1973
9	संगीत कला मंदिर, कलकत्ता	राजिन्दर नाथ	1973
10	रंग शिविर, उज्जैन	राजेन्द्र गुप्ता	1974
11	थिएटर मूवमेंट, कटक	प्रसन्ना मोहन्ती	1975
12	दर्पण, सीतापुर	विजय कपूर	1976
13	अनुपमा, वाराणसी	अवध बिहारी लाल	1976
14	आर्टिस्ट कम्बाइन, ग्वालियर	वसंत परांजपे	1976
15	राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, रंगमंडल, दिल्ली	अमाल अल्लाना	1976
16	इन्टरनेशनल थियेटर, भुवनेश्वर	गोविन्द गुप्ता	1976
17	न्यू थियेटर, हैदराबाद	कादिर अली बेग	1977

18	डिपार्टमेन्ट ऑफ इंडियन थियेटर, चण्डीगढ़	मोहन महर्षि	1981
19	मध्य प्रदेश रंगमंडल, भोपाल	अलखनंदन	1982
20	अमिनेत (चण्डीगढ़)	हरीश भाटिया	1984
21	पदातिक (कलकत्ता)	श्यामानंद जालान	1984
22	सम्भव (दिल्ली)	सुरेश भारद्वाज	1985
23	रंगयुग (जम्मू)	संजीव बक्षी	1991
24	कोख (न्यू दिल्ली)	राधेश्याम	1984

मराठी : (अनुवाद : विजय तेंदुलकर)

क्रमांक	नाट्य संस्था	निर्देशक	वर्ष
1	थियेटर यूनिट, बम्बई	सत्यदेव दुबे	1969
2	बड़ौदा ऐमेच्योर ड्रैमेटिक क्लब, बड़ौदा	सुधीर कुलकर्णी	1980
3	ललित कला आणि क्रीडा मंडल, नासिक	अमोल पालेकर	1972
4	कोंकणी, गोआ	अमोल पालेकर	1971

गुजराती : (अनुवाद : मधुकर रांधेरिया)

1	भारतीय विद्या भवन, कला केन्द्र, बम्बई	चन्द्रकांत दलाल	1971

अंग्रेजी : (अनुवाद : बिन्दु बत्रा)

क्रमांक	नाट्य संस्था	निर्देशक	वर्ष
1	ऑस्कर, कलकत्ता	स्वर्ण चौधरी	1971
2	रुचिका, दिल्ली	अरूण कुकरेजा	1973
3	लेडी हार्डिंग कॉलेज, दिल्ली	रवि बासवानी	1980

बांग्ला : (अनुवाद : प्रतिमा अग्रवाल, शमीक बनर्जी)

1	चतुरंग, दिल्ली	सुशील चौधरी	1973
2	शौभनिक, कलकत्ता	कृष्ण कुंडु	1973

मणिपुरी : (अनुवाद : कृष्ण मोहन शर्मा)

1	अनंत गार्द, इम्फाल	सानाख्या इवोतोम्बी	1982

असमिया :

1	डिपार्टमैन्ट ऑफ कल्चरल अफ़ेअर्स रिपर्टरी, गुवाहटी	दुलाल राय	1976

पंजाबी : (अनुवाद : गुरूशरण सिंह जसूजा)

1	कॉलिजिएट ड्रामा सोसायटी, दिल्ली	रवि तनेजा	1988

कोंकणी :

1	गोवा	अमोल पालेकर	1971

अन्य प्रस्तुतीकरण :

1	जे.एण्ड के. एकेडमी ऑफ़ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजेज़, जम्मू	मोतीलाल क्यूमू	1970
2	यंग आर्टिस्ट्स कल्चरल ऐसोसियेशन, इलाहाबाद	गजानन पित्रे	1970
3	इंजीनियरिंग कॉलेज, चण्डीगढ़	हरीश भाटिया	1974
4	आई.आई.टी. दिल्ली	एम.के.रैना	1974
5	आई.आई.टी. लखनऊ	राजेश भाटिया	1974
6	आफीसर्स क्लब, सवाई माधोपुर	सुशील चौधरी	1975
7	त्रिमूर्ति, जयपुर	एस.एस. वासुदेव	1978
8	अभिव्यक्ति, गोरखपुर	सतीश जैन	1978
9	मेघदूत ऑर्डिनेंस फैक्ट्री, चन्द्रपुर	ओम प्रकाश वाल्मीकि	1978
10	समता, रायपुर	प्रदीप भट्टाचार्य	1979
11	रोटरी क्लब, गोरखपुर	सतीश कुमार जैन	1979
12	ब्ल्यू स्टार क्लब, दिल्ली	प्रकाश भाटिया	1979
13	रॉबिन आर्ट्स थियेटर, दिल्ली	रॉबिन बत्रा	1982
14	राज बिसारिया, लखनऊ		
15	रीता सौंधी, बोकारो		
16	करूणाकर पाठक, जबलपुर		1971
17	बंगेश्वर मल्लिक, बालाघाट		
18	शेखर, राउरकेला		

19 अमोल पालेकर, बम्बई

20 उर्मिल कुमार, थपलियाल, लखनऊ

21 विभा मिश्रा, भोपाल, कानपुर इत्यादि

22 मोहन राकेश नाट्य समारोह - 3-20
दिसम्बर : 92, त्रिपुरारी शर्मा

पैर तले की जमीन :

क्रमांक	नाट्य संस्था	निर्देशक	वर्ष
1	अभियान, दिल्ली	राजिन्दर नाथ	1974
2	अमिनेत, चण्डीगढ़	अतुलवीर अरोड़ा	1979
3	गांधी मेडीकल कॉलेज, भोपाल	रईस हसन	1976
4	चिकित्सा महाविद्यालय, रायपुर	गिरिजा शंकर अग्रवाल	1980

(ii) आषाढ़ का एक दिन : लेखकीय :

मोहन राकेश ने स्वयं अपने नाटकों के विषय की प्रासंगिकता के बारे में अपने लेखकीय में विस्तार से चर्चा की है। अतः उसका हवाला देना जरूरी है :

"मैं अपने बारे में तो निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मैंने एक भी शब्द ऐसा नहीं लिखा है जो वर्तमान से संबंधित नहीं है। .. .. मेरे विचार में 'आषाढ़ का एक दिन' कालिदास के बारे में नहीं है। इसमें अधिकांश कल्पना है। हालाँकि मैंने सांस्कृतिक तथ्यों को नज़रअंदाज़ नहीं किया है और मैंने एक उस शोध का उपयोग किया है जिसे मेरे खयाल से शायद अस्वीकृत कर दिया गया है। लेकिन यह विशिष्ट शोध मेरे उस विचार के अनुकूल था जिसके द्वारा मैंने कालिदास को काश्मीर का प्रशासक दर्शाया है। मैं इस नाटक में आज के लेखक की द्विविधा को चित्रित करना चाहता था - लेखक जो राज्य या इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं द्वारा प्रस्तावित लोभ के प्रति आकर्षित होता है और दूसरी ओर कहीं अपने प्रति प्रतिबद्ध भी होता है। और इसके लिए बेचारे कालिदास को बेकार ही नाटक में खींचकर ले आया गया और मैंने अधिकार-क्षेत्र के लिए उनके ऊँचे स्थान से उन्हें थोड़ा गिरा भी दिया। लेकिन नाटक समकालीन मानस के बारे में ही है। .. .. ..

'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास का जैसा भी चरित्र है वह उसकी रचनाओं में समाहित उसके व्यक्तित्व से बहुत हटकर नहीं है। हाँ आधुनिक प्रतीक के निर्वाह की दृष्टि से उसमें थोड़ा परिवर्तन अवश्य किया गया है। यह इसलिए कि कालिदास मेरे लिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में वह प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आंदोलित करता है। व्यक्ति कालिदास को उस अन्तर्द्वन्द्व में से गुज़रना पड़ा या नहीं, यह बात गौण है। मुख्य बात यह है कि हर काल में बहुतों को उसमें से गुज़रना पड़ा है। .. .. ..

'आषाढ़ का एक दिन'का कालिदास दुर्बल नहीं है, कोमल, अस्थिर और अन्तर्द्वन्द्व से पीडित है। विलोम जो अपेक्षया प्रबल प्रतीत होता है, दुराग्रह की आक्रामक शक्तियों को संकेतित करता है। वह व्यक्ति अपने अन्तर्द्वन्द्व को खा चुका है, इसलिए अपेक्षया अधिक संयोजित है। आशा और आस्था से हताशा और अनास्था का स्वर प्रकट रूप से अधिक बलवान होता है, अपनी स्थापना के लिए उसकी आन्तरिक अपेक्षा ही ऐसी होती है। आशा और आस्था की शक्तियाँ अपनी कोमलता में निर्बल प्रतीत हों, फिर भी कथ्य यही है कि बर्बर शक्तियों के हाथों वे पराजित नहीं होतीं। 'आषाढ़ का एक दिन' में पराजित व्यक्ति टूटा हुआ कालिदास नहीं अपने में संयोजित विलोम है - क्योंकि विजय और पराजय के संकेत वे दोनों स्वयं नहों हैं, संकेत हैं, मल्लिका जो कालिदास की आस्था का विस्तारित रूप है। मल्लिका का

चरित्र एक प्रेयसी और प्रेरणा का ही नहीं, भूमि में रोपित उस स्थिर आस्था का भी है जो ऊपर से झुलसकर भी अपने मूल में विरोपित नहीं होती। .. .. ..

मेरे लिए मल्लिका की बाहरी टूटन उस चरित्र की परिकल्पना का अनिवार्य अंग रही है क्योंकि उसी से उसकी आन्तरिक एकता रेखांकित होती है। 'तुमने वारांगना का यह रूप भी देखा है?' इन शब्दों में मल्लिका का व्याकुल आक्रोश ही नहीं, आत्म-भर्त्सना भी है क्योंकि विलोम के साथ अपने संबंध को वह इसी अर्थ में लेती है। और विलोम ? उसकी यह पूर्ति कि 'इस घर में अब तो (वह) अयाचित अतिथि नहीं है। अब तो वह अधिकार से आता है, भी कितनी खण्डित है क्योंकि उसके लिए वास्तविकता आज भी यही है - 'हर समय द्वार बंद।'.. .. ..

नाटक की भाषा के संबंध में सबसे बड़ी आपत्ति इसके संस्कृत-निष्ठ होने को लेकर रही है। किन्तु भाषा की यह सीमा कुछ शब्दों के चुनाव तक है। एक काल-विशेष की पृष्ठभूमि रखने के कारण अपेक्षित यथार्थ-भ्रम की सृष्टि के लिए मुझे तब भी यह आवश्यक लगा था और अब भी मेरी यह धारणा बदली नहीं है। साधारण दर्शक तथा नाटक के संप्रेक्षण में इससे कोई बाधा आती हो, ऐसा अब तक के अनुभव से सिद्ध नहीं होता।"[1]

(iii) निर्देशक / अभिनेता / समीक्षक की नज़र से :

अनेक चर्चित निर्देशकों, अभिनेताओं और समीक्षकों ने आषाढ़ का एक दिन पर अपने विचार व्यक्त किए है। उनके वक्तव्यों का संकलन करने के उपरांत मैंने कुछ प्रस्तुतियों की समीक्षा करने की चेष्टा की है।

निर्देशकीय : राम गोपाल बजाज :

"मेरा यह निजी तौर पर मानना है कि साहित्य अथवा कला समसामयिक होते हुए भी व्यापक प्रश्नों को उठाती है और इस दृष्टि से राकेश का कथा साहित्य एवं नाटक तात्कालिक आटे दाल के भाव, मँहगाई या दलबदल की राजनीति का साहित्य नहीं है। 'आषाढ़ का एक दिन' में भी महत्वाकांक्षा, रचनाधर्मिता, शरीरी और अशरीरी के बीच चेतना की झंकृति एवं पीड़न व्यापक है। मल्लिका मुझे प्रकृति एवं औदात्य की प्रतीक लगती है और कालिदास रचनाधर्मी व्यक्तित्व की परिवेश के साथ उसकी असंगति, उसकी निजी जीवन-दृष्टि में व्यतिरेक एवं द्वैध पैदा करती है। कालिदास का आक्रोश और मोहभंग मात्र परिवेश से ही नहों स्वयं अपनी समझ एवं प्रकृति के प्रति भी है, जिसके साथ वह नाटक के अंत में एक और यात्रा का आरंभ करता है। बिना कालिदास के चाहे हुए भी इस प्रक्रिया में मल्लिका का औदात्य आत्मदान नितान्त अकेला छूट ज़ाता है - सीता के धरा प्रवेश की तरह। विलोम भी एक दूसरे

स्तर पर प्राप्त करने के प्रसंग में खण्डित और घूसरित होता है। अनजान, अबोध, मातुल, सामान्य दैनन्दिन स्तर पर पंगु होते हुए भी बाह्य सामाजिक संक्रांति के मूल्यों की पंगुता का प्रतीक बन सकें ऐसी कोशिश है । मंच-विधान के माध्यम से यथार्थ और अमूर्तन के बीच की कड़ी ली गई है। जिसे संगीत के द्वारा शून्य चेतना तक उठाने की दिशा में प्रयत्न दीखेंगे।

शैली की दृष्टि से आधुनिक चाक्षुष बिम्बों के साथ भाषा के शब्दों में जो व्यंजक बिम्ब हैं, जो समस्तिष्क (मात्र सहृदय नहीं) दर्शक के, कल्पनाजगत में रेखित होते हैं, वो ही सोना है, जिसकी ओर में उन्मुख भर हूँ। राकेश जी की रचनाओं में मुझे इसकी सिद्धि के दर्शन हुए हैं।"[2]

सत्यदेव दुबे (बम्बई)

"'आषाढ़ का एक दिन' ऊपर से कालिदास के बारे में है, पर वास्तव में कालिदास इस नाटक में एक ऐसे आधुनिक कलाकार का मूर्तिमान रूप है जो अपनी सर्जनात्मक समस्याओं से ग्रस्त होने के साथ-साथ राज्य-व्यवस्था द्वारा किए गए अपमान से भी क्षुब्ध है। देखने में किसी बीते युग का नाटक लगने पर भी इसमें आधुनिक युग के अनेक सन्दर्भ थे और ऐसे सुगठित चरित्र थे जिनसे तादात्म्य हो सकता था। साथ ही आधुनिकता को स्थिति के 'काव्य' पर हावी नहीं होने दिया गया था और वह उन संवादों में उभरकर आती थी जिनकी संयत संगीतात्मकता ने हिन्दी जगत को चौंका दिया था। यद्यपि उसमें कथानक के युग के अनुरूप संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग था, पर नाटककार ने हिन्दी भाषा में एक पूर्व विकसित नाटकीय मुहावरे का समावेश किया था जिसकी बोलचाल की लय निर्दोष थी और जिसमें एक स्पष्ट आधुनिक खनक थी।"[3]

फैज़ल अलकाज़ी (नई दिल्ली)

"रुचिका के लिए अपनी प्रस्तुति (अगस्त, 72) में मैंने नाटक में मौजूद समस्या की सार्वजनीनता पर बल देना चाहा - यानी एक सृजनशील कलाकार किस तरह से किसी व्यवस्था द्वारा पूरी तरह से कुचल और तोड़ दिया जाता है। कालिदास समाज में 'मिसफिट' नहीं था, बल्कि राज्य स्वयं कुछ अजीब सा बनावटी और क्रूर हो गया था। समस्या यही थी कि इस विचार को दर्शकों तक कैसे पहुँचाया जाये।

जाहिर है अभिनय इसका एक साधन था, पर सिर्फ यही काफी न था। विभिन्न दरबारी चरित्रों के लिए बिल्कुल ही बनावटी चाल-ढाल निर्धारित करके हम लोगों ने उन्हें नाटक के देहाती पात्रों से अलग करने का प्रयत्न किया। रंगिणी और संगिणी के बनावटी भाषण और भंगिमाएँ, अनुस्वार की अत्यधिक शिष्ट आवाज और उसका 'गुलाब', प्रियंगुमंजरी का राजसीपन और साथ ही इसके विपरीत उसकी धबराहट

और कालिदास को बाँध रखने में असमर्थता - इन सभी तत्वों के माध्यम से दरबारी पात्रों को ग्रामीणों से अलग करने में सहायता मिली।

वेशभूषा में रंगों के प्रयोग में भी हमने उसी बात पर बल दिया - अधिकाधिक गुलाबी और जामुनी रंग के वस्त्रों और भारी-भारी आभूषणों से लदे दरबारी पात्र, और सीधे-सादे, धरती के फीके रंगों के वस्त्रों में देहाती पात्र।

नाटक चूँकि वृत्तमंच (एरेना) पर प्रस्तुत किया गया था, जहाँ अभिनेता और दर्शक के बीच की दूरी बहुत कम थी, इसलिए रूप-सज्जा का प्रयोग भी दरबारी और देहाती पात्रों के आपसी अंतर को जाहिर करने के लिए किया गया। एक ओर देहाती पात्रों के लिए कोई सज्जा नहीं थी तो दूसरी ओर दरबारी पात्रों (यहाँ तक कि अनुस्वार - अनुनासिक भी) के लिए गहरी रूप-सज्जा और जटिल केश रचना का विधान था।

हम लोगों ने पारंपरिक चरित्र-चित्रण से भी हटने का निश्चय किया। अंबिका यहाँ युगों से पीडित भारतीय नारीत्व का प्रतीक न होकर एक ऐसी नारी के रूप में आयी जिसने जीवन के कड़वे यथार्थ को भोगा था। ठीक उसी तरह विलोम भी एक खलनायक न होकर नाटक में संभवतः सबसे ज्यादा व्यावहारिक और सही ढंग से सोचनेवाले व्यक्ति के रूप में सामने आया।

निर्देशक की हैसियत से मैंने नाटक को कुछ विशेष दृश्य-श्रव्य बिंबों के रूप में देखा। नाटक के आरंभ में बिजली की चमक के साथ चिंतित अंबिका का प्रवेश, दूसरे अंक में कालिदास के पैरों की दूर होती आहट को उभारते हुए नगाड़े के जोरदार बोल, तीसरे अंक में काले वस्त्र पहने मल्लिका के अकेलेपन को और भी तीखा बनाती हुई बाहर प्रकृति की तूफानी गरज, एक बार फिर अलग होते प्रेमियों के बीच अंतिम प्रसंग में कमरे में कालिदास की धीमी चहलकदमी, मंद रोशनी में दिये की जलती-बुझती लौ में चमकता मल्लिका का आँसुओं में डूबा चेहरा, और नाटक के अंतिम क्षणों के साथ-साथ तूफान - ये कुछ ऐसे बिंब हैं जो मुझे काफी दिनों तक बाँधे रहेंगे।"[4]

जौय माइकेल (नई दिल्ली)

"मैंने 'आषाढ़ का एक दिन' की प्रस्तुति अंग्रेजी में अमेरीका के वर्जीनिया विश्वविद्यालय के मैरी वाशिंग्टन कॉलेज में 1968 में की थी। x x x x x x x मुझे इतना याद पड़ता है कि नाटक का अनुवाद बर्कले के केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के किसी अमरीकी प्रोफेसर ने किया था और स्वयं मोहन राकेश ने उसकी सराहना की थी। x x x x x x दृश्यमंच का अभिकलन वी. राममूर्ति का था और वेशभूषा का रोशन अलकाजी द्वारा। प्रकाश-योजना विश्वविद्यालय नाटक विभाग के अध्यक्ष ऐलबर्ट क्लाइन की थी। बहुत से प्रामाणिक आभूषण मैं भारत से ही ले गई थी जिन्हें विशेष

रूप से इन्दर राजदान ने तैयार किया था और जो आज भी वहाँ नाटक विभाग में एक स्थायी प्रदर्शनी में रखे हुए हैं।"[5]

विवेकदत्त झा (सागर) :

"x x x x नाटककार ने जीवन-स्पंदन को पकड़ते हुए मूल्यबोध द्वारा नाटक को समग्रता प्रदान की है। उनके पात्र जीवंत और स्वाभाविक हैं। मानव-मन का विश्लेषण बखूबी किया गया है। स्त्री-पुरूष के संबंधों की विडम्बना को अलग-अलग स्तर पर पकड़ने के प्रयत्न में नाटककार को अभूतपूर्व सफलता मिली है। कालिदास मल्लिका की उपेक्षा करता तो है, किन्तु उसके बिना वह जी नहीं पाता। कालिदास के संवाद उसकी इन मनःस्थितियों के परिचायक हैं : 'तुम मुझे समझ नहीं रही हो मल्लिका, प्रश्न तुम्हें घेरने का भी नहीं है।' .. .. .. यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरह-विमर्दिता यक्षिणी तुम हो।' उसके द्वारा विस्मृत, उपेक्षित मल्लिका क्षण भर को भी अपने को उससे अलग नही कर पाती : 'तुम रचना करते रहे और मैं सोचती रही कि मैं सार्थक हूँ .. .. मैं अपने को अपने में न देखकर तुममें देखती थी।' मानव मन की परवशता और उसकी गहराइयों में बैठे प्राकृतिक बंधनों का यह स्वाभाविक चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

x x x संवादों के माध्यम से नाटक में शाश्वत सत्य उद्घाटित हुआ है। मसलन, जीवन की स्थूल आवश्यकताएँ ही तो सब कुछ नहीं हैं, ... 'योग्यता एक चौथाई व्यक्तित्व का निर्माण करती है, शेष पूर्ति प्रतिष्ठा द्वारा होती है।' .. .. .. 'कोई व्यक्ति उन्नति करता है तो उसके नाम के साथ कई तरह के अपवाद अनायास जुड़ने लगते हैं।' कहीं-कहीं कालिदास और मल्लिका के संवाद अधिक लंबे प्रतीत होते हैं। वस्तुतः उनके बिना नाटक का निर्वाह कठिन है। कालिदास और मल्लिका की मनःस्थितियाँ, इन लंबे संवादों तथा स्वगत-कथनों के बिना, इतने प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त नहीं की जा सकतीं।

x x x सामान्य नहीं हैं, 'आषाढ़ का एक दिन' के पात्र। हमारा समाज परंपरागत संस्कार का पुजारी रहा है। उस संस्कार के प्रतिष्ठापक राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर और गांधी जैसे महा मानव विशेष विभूतियों से युक्त माने गये हैं। ऐसी विभूतियों को भारतीय समाज मानवीय दुर्बलताओं से युक्त नहीं देखना चाहता। कालिदास को उसकी दुर्बलताओं के साथ मंच पर उपस्थित कर नाटककार ने समाज की परंपरागत रूढि को तोड़ने की दिशा में महत्त्वूपर्ण योग दिया है।

मातुल का अतिनाटकीय होना अनिवार्य है। अनुस्वार तथा अनुनासिक नाटक के अनिवार्य अंग तो हैं ही, विषयांतर की दृष्टि से भी उनकी उपस्थिति महत्वपूर्ण है। गंभीर और लंबे संवादों के बीच उनकी उपस्थिति नाटक को बोझिल होने से बचाती है। दर्शकों की रुचि का ध्यान रखते हुए सामान्य ढंग से गंभीर बातें कह जाना राकेश की अपनी विशेषता है। दोनों राज - कर्मचारी - एक वर्ग विशेष के - संदिग्ध -

असंदिग्ध, औचित्य-अनौचित्य के विवाद में उलझे, मतवैभिन्य से अपने दिमागी दिवालियेपन के द्योतक हैं। समाज का सत्ता संपन्न वर्ग कैसे प्रत्येक उपलब्धि के मूल में कुछ अस्वाभाविक और असामान्य की कल्पना करता है, नागरिकों के लिए ग्राम एक अजूबा है - इसका चित्र रंगिणी - संगिणी तथा प्रियंगुमंजरी के चित्रों में उभरता है। 'इस प्रदेश ने कालिदास जैसी असाधारण प्रतिभा को जन्म दिया है। यहाँ की तो प्रत्येक वस्तु असाधारण होनी चाहिए।' .. .. .. 'इस प्रदेश का कुछ वातावरण साथ ले जाऊँ', इत्यादि सत्ताधारियों की अल्पज्ञता प्रदर्शित करते हैं।

मल्लिका 'लहरों के राजहंस' की सुन्दरी तथा 'आधे-अधूरे' की सावित्री की तरह दर्शकों की सहानुभूति अर्जित करती है। x x x

कालिदास - युगीन वातावरण के निर्माण हेतु मंच पर बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ा। नाटककार का रंगनिर्देश इसमें सहायक हुआ। मंचावतरण के दौरान प्रत्येक वस्तु यथास्थान हो इस पर विशेष ध्यान देना अनिवार्य है। जरा-सी चूक विषम स्थिति पैदा कर सकती थी। अनुस्वार- अनुनासिक के प्रवेश पर चौकी का बीच में होना, प्रियंगुमंजरी की उपस्थिति में आसन के समीप चौकी पर मेघदूत की प्रति तथा प्रथम अंक में विलोम के प्रवेश पर ताक पर बुझे दीपकों का होना उतना ही अनिवार्य है जितना कि पात्रों की उपस्थिति।

'आषाढ़ का एक दिन' निस्संदेह उच्चस्तरीय नाटक है। इसका प्रदर्शन प्रबुद्ध दर्शकों के समक्ष ही अधिक अर्थपूर्ण है। नाटक सबसे अधिक इस अर्थ में सफल है कि संस्कृतनिष्ठ भाषा का निर्वाह करते हुए नाटककार अपनी बात आम दर्शकों तक पहुँचा सका। भाषा बाधा न बनकर नाटक की खूबी बन गयी है।"[6]

जार्ज सेंट जूलियन : (वर्जीनिया, अमरीका) :

"x x x यद्यपि यह नाटक मौजूदा ज़माने में लिखा गया है, पर इसका प्रमुख चरित्र है भारत का महानतम नाटककार, कालिदास, जो शायद ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी में हुआ था और जिसने अपने चार उपलब्ध सुखान्तकों के बल पर ही रंगमंच को धार्मिक अनुष्ठान की बजाय एक अधिक उपयुक्त कार्य, दरबारी मनोरंजन, बना दिया। वह भारत के रंगमंच का पहला रोमैंटिक था, और कम से कम पाश्चात्य जगत के लिए आज भी भारत का शेक्सपियर और मौलियर बना हुआ है।

x x x मगर ऐसे नाटक को प्रस्तुत करने की समस्या तो कहीं ज्यादा है जो हमारे लिए अजनबी संस्कृति की आधुनिक रचना है और जो 1963 में अमरीकी रंगमंच की रूढियों से सर्वथा भिन्न सौंदर्यदृष्टि का प्रतिनिधित्व करती है।

इसलिए यह नाटक बिना किसी दुर्भाग्यपूर्ण परिणति के तभी प्रस्तुत किया जा सकता था जब उसके निर्देशक को उसके रंगमंचीय मुहावरे की पूरी जानकारी हो,

और अभिनेता समुदाय ऐसा हो जो बुद्धिमान तो हो ही, साथ ही जो अपने अनुभव से भिन्न शैली को अपनाने के लिए पर्याप्त ग्रहणशील हो।

x x x रोशन अलकाजी की वेशभूषा के सुन्दर रंगों और डिज़ाइनों ने, कोको रोजर्स की आकर्षक स्मारिका ने, ऐलबर्ट क्लाइन की निपुण और प्रभावी प्रकाश योजना ने, प्रवेशकों की प्रामाणिक भारतीय वेशभूषा ने, और बाहरी कक्ष में भारतीय सामग्री की प्रदर्शनी ने प्रस्तुति के सुखद प्रभाव को गहरा किया। x x x नाटक में दो हास्यमूलक प्रसंग हैं जिन्हें किटी ब्रैडले और सूजद्यन सीड (रंगिणी-संगिणी) और राजकुमारी के आगमन की तैयारी करनेवाले दो सज्जनों (अनुस्वार-अनुनासिक) ने बड़ी कुशलता से निभाया। ये प्रसंग इस बात का प्रमाण हैं कि रंगमंच कितना सार्वभौमिक है। ये प्रसंग 1968 में किसी अमरीकी प्रहसन के अंश भी हो सकते हैं। ये समकालीन लोकप्रिय नाटक 'रोज़ेनक्रांट्स' और गिल्डेन्सटर्न' के एक दृश्य की भी याद दिलाते थे।

यदि आप, नवीनतम ब्रॉडवे 'हिट' की बजाय रंगकला के शौकीन हैं तो 'आषाढ़ का एक दिन' अवश्य देखिये - नहीं तो एक दिन आपको पछताना पड़ेगा।"[7]

कन्हैयालाल नंदन (बम्बई / नई दिल्ली) :

"x x x थियेटर ग्रुप की ओर से हिन्दी के प्रख्यात नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' को अंग्रेजी में प्रस्तुत किया जा रहा था, जिसका अनुवाद किया था सास ऐसले ने 'वन डे इन आषाढ़' नाम से।

x x x पर्दा खुलते ही मन पर प्रभाव अच्छा पड़ा। सेट-निर्माण और उसकी सज्जा आकर्षक थी। प्रकाश - योजना कुछ इस तरह की थी कि आषाढ़ की पहली फुहार का सुन्दर प्रभाव पैदा किया जा सका था। गृह प्रकोष्ठ और उसकी अन्तर्सज्जा में भी कुशलता और सूझ-बूझ का परिचय दिया गया था। अंबिका और मल्लिका की बातचीत के प्रारंभिक दृश्य के बाद, कालिदास हरिणशावक के साथ प्रवेश करते हैं और उनके पहले वाक्य से ही मन बिदक जाता है। जिस सहृदयता और अनुभूतियों की कोमलता को कालिदास के पात्र को व्यक्त करना है, वह सब औपचारिक ढंग से बोली गई ड्रामाई अँग्रेजी में डूबकर रह गयी। x x x

इस अंग्रेजी मंचन में दोनों पुरुष भूमिकाएँ नाटक की संवेदन तरलता को काठ बना गयीं। मल्लिका (धन बिलिमोरिया) ने इसे ज़रूर थोड़ा-बहुत संभाला, बल्कि यूँ कहें कि इसे अर्थवान बनाने में सबसे ज्यादा मदद की।" [8]

सुधा शिवपुरी (नई दिल्ली / बम्बई) :

"x x x नाटक अपने आप में इतना अर्थ लिए हुए था कि उसके एक-एक मूड को तब तक नहीं पकड़ा जा सकता था जब तक कि मैं सुधा अपने को मल्लिका के

रूप में आत्मसात न कर लूँ। वह कुछ मेरा पागलपन ही था कि अपनापन भूलकर उस दो-ढाई घंटे तक मैं उस पात्र में ऐसी डूबती थी कि नाटक की समाप्ति पर ध्यान आता था कि, अरे कालिदास चला गया, सिर्फ यह कहकर कि समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता !

'आषाढ़ का एक दिन' के मैंने न जाने कितने प्रदर्शन किए थे। मल्लिका की भूमिका करते समय मैं जिस पात्र को जी रही थी वह आज तक मेरे कितना करीब है, यह मैं शब्दों में शायद नहीं बता सकती।" [9]

जगदीश शर्मा (जोधपुर) :

"इस नाटक में कालिदास अपनी ऐतिहासिकता के बावज़ूद मूल कथ्य का निमित्त मात्र है। वह नाटक का केन्द्रीय चरित्र नहीं है। 'आषाढ़ का एक दिन' में एक स्थिति ऐसी आती अवश्य है जब नाटक शासन सत्ता के आकर्षणमय निमंत्रण और कलाकार के स्वातंत्र्य के द्वन्द्व की ओर उन्मुख होता है। x x लेकिन पूरी रचना में यह प्रकरण प्रासंगिक बनकर ही स्थान ले सका है। x x

नाटक में घटना स्थल मल्लिका का घर है। उसके घर की बदलती हुई स्थिति ही तीन अंकों के विभाजन को सार्थक बनाती है। इस प्रकार एक ही स्थान पर समय की गति के साथ बदलता हुआ परिवेश समय के हाथों उत्पीडित मानव-नियति की कथा कहता है। वह नियति है मल्लिका की और उसका निमित्त है कालिदास।

संपूर्ण नाटक में मल्लिका का संघर्ष व्याप्त है और उसके दो आयाम हैं। मल्लिका का संघर्ष उर्ध्वाधर (वर्टीकल) रूप में यथार्थ के विरूद्ध रूमानियत का संघर्ष है और क्षैतिज (होरिजोंटल) रूप में काल-प्रवाह के विरूद्ध मनुष्य की इच्छा का द्वन्द्व है। नाटक में संघर्ष इन दो रूपों में बँटा हुआ नहीं है, बल्कि एक ही संघर्ष के ये दो आयाम हैं।"[10]

(iv) 'आषाढ़ का एक दिन' की विभिन्न प्रस्तुतियों का तुलनात्मक अध्ययन :

'आषाढ़ का एक दिन' में राकेश ने आज के लेखक की द्विविधा को चित्रित करना चाहा है, जो राज्य एवं अन्य संस्थाओं द्वारा प्रस्तावित लोभ से आकर्षित होता है और दूसरी ओर अपने प्रति प्रतिबद्ध भी होता है। 'कालिदास' एक व्यक्ति नहीं, बल्कि सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है और नाटक में यह प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने के लिए है जो सृजनशील प्रतिभा को आंदोलित करता है। लेखक के अनुसार कालिदास 'दुर्बल' नहीं है बल्कि कोमल, अस्थिर एवं अन्तर्द्वन्द्व से पीडित है

और विलोम इसलिए प्रबल प्रतीत होता है क्योंकि वह अपने अंतर्द्वन्द्व को खा चुका है। पराजित व्यक्ति टूटा हुआ कालिदास नहीं, अपने में संयोजित विलोम है। हताशा और अनास्था, आस्था और आशा से प्रकट रूप से बलवान प्रतीत होती है, किन्तु आस्था की शक्तियाँ कोमल होते हुए भी पराजित नहीं होतीं। मल्लिका कालिदास की आस्था का विस्तारित रूप है। वह आस्था जो ऊपर से झुलसकर भी अपने मूल में विरोपित नहीं होती। राम गोपाल बजाज ने राष्ट्रीय नाट्यविद्यालय रंगमंडल की प्रस्तुति में 'आषाढ़ का एक दिन' को लेखक की महत्वाकांक्षा, रचनाधर्मिता और शरीरी एवं अशरीरी के बीच चेतना की झंकृति से जोड़कर देखा। जहाँ उन्होंने मल्लिका को प्रकृति और औदात्य का प्रतीक माना वहीं कालिदास के रचनाधर्मी व्यक्तित्व की परिवेश के साथ असंगति को उसकी जीवन की दुविधा का मूल माना। इसी विभाजित सोच की वजह से कालिदास का मोहभंग होता है और वह एक और यात्रा की शुरूआत करता है। विलोम अपनी चाहत को प्राप्त करने पर भी अंततः पराजित होता है। मातुल सामान्य स्तर पर पंगु होते हुए भी सामाजिक संक्रांति के मूल्यों की पंगुता का प्रतीक बन सके ऐसी कोशिश श्री राम गोपाल बजाज ने की है। 'थिएटर यूनिट' बम्बई की प्रस्तुति में सत्यदेव दुबे ने भी कालिदास को आधुनिक कलाकार का मूर्त रूप माना है, जो सर्जनात्मक समस्याओं से जूझने के साथ-साथ राजसत्ता द्वारा किए गए अपमान से क्षुब्ध है। उन्होंने विवेच्य नाटक में आधुनिक युग के संदर्भों को उभारा और ऐसे सुगठित चरित्रों की योजना की, जिससे दर्शकों का तादात्म्य हो सके लेकिन आधुनिकता की स्थिति को उन्होंने 'काव्य' पर हावी नहीं होने दिया। 'रुचिका' के लिए अपनी प्रस्तुति में फैज़ल अलकाज़ी ने नाटक में मौजूद समस्या की सार्वभौमिकता पर बल देना चाहा। उन्होंने दिखाया कि व्यवस्था किस तरह एक सृजनशील कलाकार को तोड़ देती है। उन्होंने अंबिका को युगों से पीडित भारतीय नारी का प्रतीक न बनाकर एक ऐसी नारी के रूप में दिखाया, जिसने जीवन के कड़वे यथार्थ को भोगा था। 'रुचिका' की इस प्रस्तुति में विलोम भी एक खलनायक के रूप में न उभरकर, सबसे ज्यादा व्यावहारिक और सही ढंग से सोचने वाले व्यक्ति के रूप में उभरा।

युवक कल्याण एवं सांस्कृतिक परिषद 'सागर' में हुई अपनी प्रस्तुति में विवेकदत्त झा ने कालिदास एवं मल्लिका के माध्यम से स्त्री-पुरूष संबंध की विडम्बना को अलग-अलग स्तर पर व्यक्त करने का प्रयास किया। कालिदास मल्लिका की उपेक्षा तो करता है, किन्तु उसके बिना वह जी नहीं पाता। उसके द्वारा विस्मृत, उपेक्षित मल्लिका क्षण भर को भी अपने को उससे अलग नहीं कर पाती। मानव मन की परवशता और उसकी गहराइयों में बैठे प्राकृतिक बंधनों का यह स्वाभाविक चित्रण अन्यत्र दुर्लभ हैं। विवेकदत्त झा जी ने न तो विलोम को आम खलनायक की तरह प्रस्तुत किया है और न ही कालिदास को सामान्य नायक की तरह। अपनी विशेषताओं के कारण अपने संवादों से दर्शकों को भ्रमित कर विलोम कभी-कभी नायक की तरह उभरता प्रतीत होता है। इसके विपरीत अंतर्द्वन्द्व से पीडित, खंडित, भावुक, निष्कपट कालिदास अपने बेलाग संवादों के कारण कुछ स्थलों पर खलनायक

की - सी स्थिति में खड़ा नज़र आता है। मातुल को झा जी ने अतिनाटकीय रूप से प्रस्तुत किया है तथा गंभीर एवं लम्बे संवादों के बीच अनुस्वार एवं अनुनासिक की उपस्थिति द्वारा नाटक को बोझिल होने से बचाया है। इन दोनों राज कर्मचारियों को एक वर्ग - विशेष के - संदिग्ध - असंदिग्ध, औचित्य - अनौचित्य के विवाद में उलझे, मत-वैभिन्य से उपजे दिमागी - दिवालियेपन के द्योतक के रूप में प्रस्तुत किया है। समाज का सत्ता संपन्न वर्ग कैसे प्रत्येक उपलब्धि के मूल में कुछ असामान्य की कल्पना करता है - इसका चित्र रंगिणी-संगिणी तथा प्रियंगुमंजरी के चरित्रों में उभरता है।

जोधपुर में हुई अपनी प्रस्तुति में जगदीश शर्मा ने माना कि कालिदास अपनी ऐतिहासिकता के बावजूद मूल कथ्य का निमित्त मात्र है, वह नाटक का केन्द्रीय चरित्र नहीं है। हालाँकि नाटक में एक स्थिति ऐसी आती अवश्य है जब नाटक शासन-सत्ता के आकर्षणमय निमंत्रण और कलाकार के स्वातंत्र्य के द्वन्द्व की ओर उन्मुख होता है, लेकिन पूरी रचना में यह प्रकरण केन्द्रीय सरोकार बनकर नहीं उभरता। नाटक का केन्द्र बिन्दु है - मल्लिका का घर और उसके घर की बदलती हुई स्थिति, जो समय के हाथों उत्पीडित मानव-नियति की कथा कहती है। वह नियति है मल्लिका की और उसका निमित्त है कालिदास। पूरे नाटक में मल्लिका का संघर्ष व्याप्त है और उसके दो आयाम हैं - यथार्थ के विरूद्ध रूमानियत का संघर्ष और समय के विरूद्ध मनुष्य की इच्छा का।

कलकत्ता की प्रसिद्ध नाट्यसंस्था 'अनामिका' की प्रस्तुति का केन्द्र मल्लिका और उसकी करूण कोमल प्रेम कथा ही थी। निर्देशक श्यामानन्द जालान के अनुसार कहानी और सुन्दरता से उसका निर्वाह ही प्रमुख वस्तु थी। कलाकार और राज्याश्रय की समस्या वगैरह उसके अन्य तथाकथित उद्देश्य गौण थे। उन्हें मल्लिका और कालिदास की कथा और विशेषतः मल्लिका की व्यथा ने बहुत प्रभावित किया था। और उसी को पूरी ईमानदारी से प्रदर्शित करने का प्रयत्न उन्होंने किया।

'दिशान्तर' के द्वारा प्रस्तुत 'आषाढ़ का एक दिन' मल्लिका की पीड़ा और करूणा पर केन्द्रित प्रदर्शन था, इसलिए उस पर प्रेम-कथा की रोमानियत एवं भावुकता आद्यंत छाई रही।

न सिर्फ पात्र-योजना एवं नाटक के मूल कथ्य, अपितु दृश्यांकन, वेशभूषा, प्रकाश एवं ध्वनि व्यवस्था इत्यादि को लेकर भी विभिन्न निर्देशकों की अलग-अलग राय रही है। राम गोपाल बजाज ने मंच-विधान के माध्यम से यथार्थ और अमूर्तन के बीच की कड़ी ली है, जिसे संगीत द्वारा शून्य-चेतना तक उठाने का प्रयत्न किया है। अपनी प्रस्तुति में उन्होंने इस नाटक के उन प्रखर एवं प्रभावशाली बिम्बों पर ध्यान केन्द्रित किया है, जो दर्शकों के मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव छोड़नेवाले हैं। 'थियेटर यूनिट' बम्बई की प्रस्तुति में सत्यदेव दुबे ने दृश्यबंध के अनेक सार्थक एवं सुन्दर संभावित प्रारूपों को छोड़कर व्यावहारिक रूप को अपनाया। दृश्यबंध के इस व्यावहारिक रूप का विस्तार से उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि :

"हमने पीछे की दीवार बाँस की बनाने का निश्चय किया और यह तय किया कि ये बाँस काफी दूर-दूर लगाये जाएँ और इस दीवार में एक दरवाज़ा भी बनाया जाये। इससे हमारी एक अतिरिक्त और प्रभावपूर्ण प्रवेश जुटाने की समस्या भी हल हो गई और बाँस की दीवार के पीछे का क्षेत्र सुन्दर दृश्य-निर्माण के उपयुक्त होने के साथ-साथ उत्तम अभिनय क्षेत्र के लिए भी बहुत उपयुक्त था। बाँसों के बीच जगह छोड़ने से वातावरण संबंधी प्रभावों के लिए गगनिका का प्रभावपूर्ण उपयोग संभव हो गया।"[11]

विख्यात निर्देशक इब्राहिम अल्काजी ने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा की गई प्रस्तुति में दृश्यांकन को नाटक के चरित्रों की अनुभूति यात्रा का सार्थक स्थल स्वीकार करते हुए मुक्ताकाशी अभिमंचन का साहस दिखाया। इस दृश्यबंध में अंबिका और मल्लिका के ग्रामीण घर को स्वाभाविक और संपूर्ण बनाने के लिए अनाज कूटने के मूसल, ईंधन रखने की जगह, छोटे से देवस्थान, कंडे सुखाने के लिए नीची-सी दीवार, मिट्टी का चूल्हा, कुंभ, बरतन माँजने की जगह, एक सूखे हुए पेड़ का तना इत्यादि की भी व्यवस्था की। नाटककार की प्रौसिनियम प्रेक्षागृह और बॉक्स सेट की मूल परिकल्पना के विरूद्ध जाकर अल्काजी ने प्राकृतिक वातावरण का सृजन किया, जिससे भावोद्रेकी तत्वों को उभारने में सहायता मिली। पत्तों की सरसराहट, डूबते सूरज की चुभती हुई किरणों, बादलों का भटकते जाना, दूर कुत्तों के भौंकने की आवाज़, किसी राहगीर की वंशी और बातचीत के आकस्मिक स्वर और हवा में अचानक ही दूर से तैरती आती आदमी की आवाज़ - इन सबने प्रदर्शन को ऐसी जीवंतता प्रदान की जो कुशल से कुशल मंच व्यवस्था एवं ध्वनि प्रभावों द्वारा संभव न थी। 'अनामिका' द्वारा की गई प्रस्तुति में श्यामानंद जालान ने नाटक के परिवेश को यथार्थवादी रूप देने के लिए जिंदा हरिणशावक को मंच पर प्रस्तुत किया, लेकिन यह युक्ति बहुत कारगर सिद्ध नहीं हो पाई। 'रुचिका' के लिए अपनी प्रस्तुति में फैज़ल अल्काजी ने नाटक को 'वृत्तमंच' (एरेना) पर प्रस्तुत किया एवं वेश-भूषा के माध्यम से इसे नवीनता प्रदान की। रंगिणी-संगिणी के बनावटी भाषण और भंगिमाएँ, अनुस्वार की अत्यधिक शिष्ट आवाज़ और उसका 'गुलाब', प्रियंगुमंजरी का राजसीपन और उसकी धबराहट - इन सभी तत्वों के माध्यम से दरबारी पात्रों को नाटक के अन्य चरित्रों से अलग दिखाने में सफलता मिली। एक ओर अधिकाधिक गुलाबी और जामुनी रंग के वस्त्रों और भारी-भारी आभूषणों से लदे दरबारी पात्र तो दूसरी ओर सीधे-सादे धरती के फीके रंगों के वस्त्रों में देहाती पात्र। देहाती पात्रों के लिए कोई सज्जा नहीं थी, तो दरबारी पात्रों के लिए गहरी रूप-सज्जा और जटिल केश-रचना का विधान था। निर्देशक के रूप में फैज़ल अल्काजी ने नाटक को कुछ विशेष दृश्य-श्रव्य बिम्बों के रूप में देखा। नाटक के आरंभ में बिजली की चमक के साथ चिंतित अंबिका का प्रवेश, दूसरे अंक में कालिदास के पैरों की दूर होती आहट को उभारते हुए नगाड़े के जोरदार बोल, तीसरे अंक में काले वस्त्र पहने मल्लिका के अकेलेपन को और भी तीखा बनाती हुई प्रकृति की तूफानी गरज़, एक बार फिर बिछुड़ते हुए प्रेमियों के बीच अंतिम प्रसंग में कमरे में कालिदास की धीमी चहलकदमी, मंद रोशनी

में दिए की जलती-बुझती लौ में चमकता मल्लिका का आँसूओं में डूबा चेहरा, नाटक के अंतिम क्षणों के साथ-साथ तूफान - ये कुछ ऐसे बिम्ब हैं जो फैज़ल अल्काजी की प्रस्तुति को अन्य प्रस्तुतियों से अलग करते हैं। विवेकदत्त झा ने अपनी प्रस्तुति में संवादों पर काफी ज़ोर दिया एवं कालिदास-युगीन वातावरण के निर्माण हेतु उन्होंने नाटककार के रंगनिर्देशों का बहुत हद तक पालन किया। मंचावतरण के दौरान हर वस्तु यथास्थान हो, इसका उन्हें विशेष ध्यान था। अनुस्वार - अनुनासिक के प्रवेश पर चौकी का बीच में होना, प्रियंगुमंजरी की उपस्थिति में आसन के समीप चौकी पर मेघदूत की प्रति तथा प्रथम अंक में - विलोम के प्रवेश पर ताक पर बुझे दीपकों का होना इस प्रस्तुति में उतना ही अनिवार्य था जितना पात्रों की उपस्थिति।

'आषाढ़ का एक दिन' की प्रस्तुति अंग्रेजी में अमरीका के वर्जीनिया विश्वविद्यालय के मैरी वाशिंग्टन कॉलेज में 1968 में हुई। इस प्रस्तुति में निर्देशिका ने झोंपड़ी, छप्पर, ऊँचा बड़ा पेड, छोटी-सी चारपाई, कुंभ और स्वस्तिक चिन्ह वाले दृश्यबंध तथा पात्रों की वेश-भूषा और रूप-सज्जा द्वारा मंच पर प्रामाणिक एवं सघन भारतीय ग्राम्य-परिवेश की सृष्टि करने का सार्थक प्रयत्न किया। यही कारण है कि नाट्य समीक्षक जॉर्ज सेंट जूलियन ने तो यहाँ तक कहा कि, यदि आप नवीनतम ब्रॉडवे हिट की बजाए रंग-कला के शौकीन हैं तो 'आषाढ़ का एक दिन' अवश्य देखिए - नहीं तो एक दिन आपको पछताना पड़ेगा।'

जून 1958 में प्रकाशित इस नाटक के प्रथम संस्करण से लेकर अब तक के बहुविध प्रदर्शनों ने उस समय इस नाटक की अभिनेयता को लेकर उठाये गए प्रश्नों को अप्रासंगिक बना दिया है। विभिन्न प्रस्तुतीकरण शैलियों और व्याख्या पर आधारित इस नाटक के डेढ़-दो सौ से भी अधिक प्रस्तुतिकरण इसकी रंग-क्षमता, लचीलेपन एवं नाट्य संभावना का स्पष्ट संकेत करते हैं। अलग-अलग निर्देशकों ने इस नाटक के कथ्य की अलग-अलग व्याख्या की है और इसके प्रस्तुतीकरण को लेकर अनेक मौलिक एवं रोचक प्रयोग भी किए हैं। श्यामानंद जालान और इब्राहिम अल्काज़ी का केन्द्रीय सरोकार नाटक के सौंदर्यपक्ष और मल्लिका के करूण-कोमल प्रेम की त्रासदी को उभारने का प्रयास रहा है। बाद में ओम शिवपुरी (हिन्दी), देवकुमार नाथ (असमिया), रतन थियम (मणिपुरी) एवं राम गोपाल बजाज (पंजाबी) आदि अनेक निर्देशकों ने नाटक के सौंदर्य-पक्ष एवं अभिनव प्रेम-कथा में एक और आयाम जोड़ दिया कलाकार एवं राज्याश्रय की समस्या। सत्यदेव दुबे, लक्ष्मीनारायण लाल, एन.सी. ठाकुर, गिरीश रस्तोगी, सतीश आनन्द, विवेकदत्त झा, के.के. माथुर, वृजमोहन शाह, सतीश चाँद, उर्मिल कुमार थपलियाल, ओम प्रकाश पाण्डे इत्यादि अधिकांश निर्देशकों ने मल्लिका को नाटक का केन्द्रीय चरित्र मानते हुए उसके माध्यम से मानवीय संबंधों की विडम्बना को रेखांकित किया है तो फैज़ल अलकाज़ी, भानु भारती एवं कुमार वर्मा जैसे निर्देशकों ने व्यवस्था द्वारा रचनाधर्मी कलाकार को तोड़ने एवं राज्याश्रय तथा कलाकार के द्वन्द्व की ओर दर्शकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

क्लासिकी युग की घटना, परिवेश और पात्र पर आधारित एवं काव्यात्मक भाषा से युक्त होने के कारण 'आषाढ़ का एक दिन' को कई निर्देशकों ने क्लासिकल पीरियड का नाटक मानते हुए उसे उसी प्रस्तुति शैली में पेश करने का प्रयास किया है, लेकिन वास्तव में यह एक यथार्थवादी आधुनिक नाटक है जिसे काव्यात्मक स्पर्श देकर नाटककार ने अद्‌भुत नाटकीय सौंदर्य की योजना की है। इसलिए क्लासिकल के साथ-साथ इसे यथार्थवादी, काव्यात्मक और प्रयोगशील प्रस्तुति - शैलियों में भी प्रदर्शित किया गया। नाटक की विविधतापूर्ण प्रदर्शन-शैलियों को देखकर राकेश ने लिखा है कि : "नाटक के अलग-अलग प्रदर्शनों में प्रस्तुतीकरण की इतनी विविधता रही है कि कभी-कभी तो लगता है कि नाटककार की ओर से किसी तरह के मंच संकेत भी शायद नहीं होने चाहिए।"[12]

जहाँ तक मंच और प्रेक्षागृह की परिकल्पना का सवाल है नाटककार की अपनी परिकल्पना प्रोसिनियम थिएटर की है इसलिए 'आषाढ़ का एक दिन' की अधिकांश प्रस्तुतियाँ प्रोसिनियम थिएटर और बॉक्स सेट पर ही की गई। परन्तु इब्राहिम अल्काज़ी द्वारा की गई इस नाटक की सर्वाधिक चर्चित प्रस्तुति मुक्ताकाशी मंच पर की गई। इस प्रकार के अन्य प्रस्तुतीकरणों में मोहन महर्षि (जयपुर), जॉय माइकल (वर्जीनिया), भानु-भारती (सेवा मंदिर-उदयपुर) तथा रतन थियम (कोरस रिपर्टरी - इम्फाल) के प्रदर्शन भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

'आषाढ़ का एक दिन' के प्रस्तुतीकरण के संबंध में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि एक आध अपवाद को छोड़कर किसी भी महत्वपूर्ण निर्देशक ने उनके नाट्यालेखों में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं किया।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि कुछेक सीमाओं के बावजूद 'आषाढ़ का एक दिन' आधुनिक हिन्दी नाट्यलेखन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है जिसके देश-विदेश में बहुसंख्यक विविधतापूर्ण एवं बहुभाषी प्रदर्शनों ने हिन्दी नाटक और रंगमंच की निजी सत्ता के उद्‌भव और विकास में ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया है। यह नाट्यरचना इस मायने में अत्यंत महत्वपूर्ण कही जा सकती है कि इसने देश-विदेश में स्थित विभिन्न निर्देशकों को अपनी ओर सहज रूप से आकर्षित किया है।

(v) लहरों के राजहंस : लेखकीय :

"मनुष्य उस सब की ओर आकर्षित होता है जिसे आनंद कहते हैं, और साथ ही ऐसी किसी चीज़ की ओर भी समान रूप से आकर्षित होता है जिसे स्पष्ट प्रतीकों से प्रकट नहीं किया जा सकता, फिर भी वह उसे तनाव की स्थिति में ले जाने के लिए उतनी ही प्रभावी शक्ति है। x x x आज की दुनिया में हम अपने भीतर अधिकाधिक विभाजित होते जा रहे हैं क्योंकि प्रत्येक आदमी कहीं-न-कहीं बुद्ध होता जा रहा है, अर्थात् उसकी यह अन्दरूनी तलाश किसी चुने हुए व्यक्ति या मन की किसी तरंग तक सीमित नहीं है वह किसी दिन संसार को त्याग कर प्रकाश की

खोज में निकल पड़ता है। हममें से हरेक के भीतर यह पीड़ा, यानी इस तलाश की इच्छा मौजूद है।

दूसरी ओर, वह शक्ति है जो हमें अपनी जिन्दगी में सर्वाधिक भौतिक सुखों को प्राप्त करने के लिए बाध्य करती है। यह ऐसी द्विविधा की स्थिति है जिसमें हममें से हरेक बँटा हुआ है। यह तलाश मनुष्य में उतनी ही यथार्थ है जितनी कि किसी बुद्ध में, और मनुष्य में भौतिक सुख की तलाश भी उतनी ही यथार्थ और सच्ची है जैसे कहें कोणार्क की किसी मूर्ति में। अतः मैं अपने इस दूसरे नाटक में आज के मनुष्य की द्विविधात्मक स्थिति को चित्रित करना चाहता था।"[13]

(vi) निर्देशकों एवं समीक्षकों के विचार :

(1) कीर्ति जैन : "लहरों के राजहंस का परिवेश तो ऐतिहासिक है ही, साथ ही इस नाटक ने अपना भी एक इतिहास रचा है। हमारे यहाँ यही अकेला नाटक है जिसके दो रूप प्रकाशित मिलते हैं और जो एक दूसरे से काफी भिन्न हैं। दूसरा प्रारूप उभरा रंगकर्मियों के साथ हुई चर्चा और प्रस्तुति की विभिन्न समस्याओं से जूझने के फलस्वरूप। राकेश की वे टिप्पणियाँ जो नाटक के पहले से दूसरे प्रारूप तक की इस यात्रा का संकेत देती हैं वह भी नाट्यलेखन की जटिल प्रक्रिया का अद्भुत विश्लेषण हैं। फिर यह भी है कि शायद यही नाटक राकेश का सबसे अधिक जटिल नाटक है क्योंकि यह बहुत से स्तरों पर एक साथ चलता रहकर उनको दोनों मुख्य पात्रों के आत्म साक्षात्कार से बखूबी जोड़ता है। स्त्री-पुरुष संबंधों के जटिल द्वन्द्वात्मकता के ढाँचे में वह एक तरफ सांसारिक व असांसारिक या वस्तुवाद व आध्यात्मिकता के बीच चुनाव के दार्शनिक सवाल उठाता है तो दूसरी तरफ हर व्यक्ति के 'स्व' की अनिवार्य खोज, अस्तित्व के अर्थ की तलाश के प्रश्न से भी जूझता है। x x x हालाँकि पहले रूप में नाटक का अन्त चाहे सन्तोषप्रद न हो पर अनुभूति की तीव्रता की दृष्टि से यही अधिक सशक्त है, यहाँ अनुभव भी अधिक आवेशपूर्ण है। दूसरे प्रारूप में नाटक के मुद्दे जरूर ज्यादा साफ होकर उभरते हैं, लेकिन कुछ ज्यादा ही तार्किकता के कारण एक ठंडापन सा बना रहता है। इसलिए हमने पहले ही प्रारूप को प्रस्तुति के लिए लेने का निश्चय किया। x x x मुझे लगता है कि एक दूसरे के प्रति गंभीर प्रेम और आकर्षण ही चरित्रों के बाकी संघर्षों के केन्द्र में है इसलिए इसको सघन करने के उद्देश्य से ही हमने 'सौन्दरानन्द' के कुछ पदों को हिन्दी अनुवाद में इस्तेमाल करने का निर्णय किया। x x x

हमने तीसरे अंक के अंत में दूसरे प्रारूप से नन्द के एकालाप के कुछ अंश भी लिए हैं। इसका कारण यह है कि पहले प्रारूप में उसका अंतिम एकालाप उसके मुख्य द्वन्द्व और अपने 'स्व' की खोज को स्पष्ट नहीं करता। बुद्ध और सुन्दरी से मोहभंग होने पर उसका यह कदम बहुत अहम है और यही उसके पूरे संघर्ष को

परिणति तक पहुँचाता है। नाटक का अंत दोनों प्रारूपों में असन्तोषजनक है। पहले में दोनों के आपसी संबंधों का अन्त एक गलतफ़हमी में होता है, एक-दूसरे को सचेतन ढंग से अस्वीकार करने में नहीं, और दूसरे में दोनों पात्र एक-दूसरे का सामना जरूर करते हैं पर वह निरा तर्क-वितर्क लगता है - चरित्रों को देखते हुए सच्चा नहीं लगता। बहरहाल हमने पहले प्रारूप को ही चुना।

नाटक का मूल कथ्य कालबोध और ऐतिहासिकता से परे है। इसलिए हमने नाटक को अनैतिहासिक किन्तु व्यंजनात्मक मंचभूमि पर निरोपित करने का निर्णय किया। एक ऐसी 'स्पेस' रचने की कोशिश की जो स्वयं एक उत्प्रेक्षा (मैटाफर) है और जहाँ पात्र अपने समूचे अनुभवों को जीते भी हैं। यह सम्पूर्ण नाटक जहाँ एक स्तर पर यथार्थ है वहीं दूसरे स्तर पर व्यंजना भी, एक ओर ---- मानव संबंधों का नाटक है तो दूसरी ओर अवधारणाओं का भी । इसलिए यह मूर्त और अमूर्त दोनों को एक साथ समेटता चलता है। प्रस्तुति-विन्यास के सभी पक्षों में हमने इन्हीं दोनों स्तरों को अभिव्यक्ति देने की कोशिश की है चाहे संगीत-विधान हो या मंच-सज्जा या पात्रों की मंच पर गति भंगिमाएँ। x x इस प्रस्तुति में इस नाटक के अर्थ की विभिन्न परतों को खोलने का प्रयास है।"[14]

(2) **सत्यदेव दुबे :** (बम्बई) : "राकेश का दूसरा नाटक 'लहरों के राजहंस' भी युग-विशेष से संबंधित था जिसमें गौतम बुद्ध के छोटे भाई नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी मुख्य पात्र थे। 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका से भिन्न, सुन्दरी अपनी बात पर जोर देनेवाली, विद्रोहिणी है और उसका दृष्टिकोण अपने पति नन्द से एकदम विपरीत है जो वैराग्य के बौद्ध दर्शन के प्रति आकर्षित है और अन्ततः उसी को स्वीकार कर लेता है।

रंगमंचीय दृष्टि से इस नाटक में संघर्ष पूरी तरह रूपाकार नहीं लेता पर नाटकीय मुहावरा और भी विकसित हुआ है। युगीन आस्वाद को मिटाये बिना ही, शब्द अधिक सरल और संयमित हो गये हैं। उनकी ध्वनि और स्वर सौ फीसदी आधुनिक हैं। बोलचाल की साफ-सुथरी लयें, खासकर, दूसरे अंक में अच्छे से अच्छे अभिनेता के लिए चुनौती हैं जिसको अभी तक पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सका है।"[15]

(3) **सुरेश अवस्थी :** (नई दिल्ली)

"'लहरों के राजहंस' एक ऐसे कथानक का पुनराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शांति के परस्पर विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वन्द्व निहित है। इस द्वन्द्व का एक दूसरा पक्ष स्त्री और पुरूष के पारस्परिक संबंधों का अंतर्विरोध है। जीवन के प्रेय और श्रेय के बीच एक कृत्रिम और आरोपित विरोध है, जिसके कारण व्यक्ति के लिए चुनाव कठिन हो जाता

है और उसे चुनाव करने की स्वतंत्रता भी नहीं रह जाती। चुनाव की यातना ही इस नाटक का कथा-बीज और उसका केन्द्र-बिन्दु है। x x x

'लहरों के राजहंस' के कथानक को आधुनिक जीवन के भावबोध का जो संवेदन दिया गया है, वही इस ऐतिहासिक कथानक को रचनात्मक स्तर पर महत्वपूर्ण बनाता है। x x x

हिन्दी में ऐतिहासिक नाटकों के कथानकों की प्रामाणिकता पर आग्रह रहता है, और तभी हिन्दी के अधिकांश ऐतिहासिक नाटक इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों का नाटकीकृत रूप भाग लगते हैं। इसके साथ ही, हिन्दी के आधुनिक नाटक साहित्य की जो दो चार श्रेष्ठ कृतियाँ हैं - 'स्कंदगुप्त', 'कोणार्क', 'अंधायुग' और 'आषाढ़ का एक दिन' ये सभी ऐतिहासिक हैं। इनकी श्रेष्ठता का कारण यह है कि इनके द्वारा नाटककारों ने ऐतिहासिक कथानक नहीं दोहराए, उनको नए परिवेश और आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुत किया है।

'लहरों के राजहंस' आधुनिक यथार्थवादी नाट्य-रचना पद्धति पर लिखा गया है, और उसमें इसी पद्धति के व्यवहारों और रूढियों का पालन किया गया है। एक ही 'दृश्यबंध' पर नाटकीय कथा घटित होती है, और कथा का विभाजन तीन अंकों में किया गया है, अंकों को दृश्यों में नहीं विभाजित किया गया। x x x नाटकीय कथा के तीन प्रमुख संचारणों-कथा का उद्घाटन, विकास तथा चरमोत्कर्ष - के आधार पर ही इस शैली के नाटकों में तीन अंकों का विधान रहता है। x x x

एक ही स्थान पर नाटक की सभी घटनाएँ दिखाकर नाटककार ने स्थान अन्विति का पूरी तरह पालन किया है। स्थान अन्विति के साथ-साथ इस नाटक में काल और व्यापार की अन्वितियों का भी पालन किया गया है। नाटक में घटनास्थलों तथा पात्रों की मनोदशाओं का परिचय देनेवाले रंग-निर्देश भी यथार्थवादी नाट्य-पद्धति के अनुसार ही रखे गए हैं। इस प्रकार यह नाटक एक विशेष रचना-पद्धति और शिल्प-विधान के अनुसार एक सुगठित और तर्कसंगत रूप-बंध (Structure) का निर्माण करता है। लेकिन नाटक में दो प्रसंगों की योजना इस रूप में की गई है कि उससे इसका रूपबंध कमज़ोर होता है। वह दो प्रसंग हैं - श्यामांग प्रसंग और नंद-दीक्षा तथा उसके प्रत्यावर्तन का प्रसंग। x x लेकिन श्यामांग प्रसंग नाटकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण होकर भी दर्शक की रूचि और नाटक के सहज प्रभाव में बाधक बनता है। इसका कारण यह है कि श्यामांग की चरित्रगत अवधारणा और उसके कार्यों और कथनों के मंतव्य स्पष्ट नहीं है, और ऐसा लगता है कि उनके संबंध में नाटककार द्विविधाग्रस्त है। आरंभ में लगता है कि श्यामांग और अलका का अत्यंत सहज, कोमल और मौन पारस्परिक आकर्षण सुंदरी और नंद के उद्दाम, मुखर और कामासक्त प्रेम का ही एक प्रतिरूप है। इस प्रकार यह प्रसंग एक निश्चित नाटकीय प्रयोजन की सिद्धि की चेष्टा करता है। और फिर बाद में यही श्यामांग नंद के अस्थिर और द्वन्द्व-जर्जर मन का एक प्रतिरूप बन जाता है और अपने ज्वर-प्रलाप में जैसे नन्द की ही अनिश्चितता, विभ्रम और अकुलाहट को ध्वनित करता है। x x x

इस प्रकार नाटककार एक साथ ही जैसे श्यामांग से दो काम लेना चाहता है और दो प्रयोजनों की सिद्धि चाहता है। श्यामांग के चरित्र का यही विरोधाभास इस अत्यंत महत्वपूर्ण प्रसंग की नाटकीय शक्ति को क्षीण कर देता है। और इसी कारण अलका का अत्यंत प्रयोजनशील और स्पष्ट चरित्रांकन भी पूरी तरह से विकसित नहीं हो पाता। नंद के दीक्षित होने की घटना वस्तु - विज्ञान की दृष्टि से नाटक में एक बहुत कमज़ोर कड़ी है। x x x

अलका और श्वेतांग के वार्तालाप के माध्यम से नाटककार ने दर्शकों को यह तो बता दिया कि जो नंद नदी तट पर तथागत के पास अपनी घृष्टता के लिए क्षमा-याचना करने गए थे, वहाँ जाकर भिक्षु बन गए हैं, किन्तु नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से इसका परिणाम यह होता है कि जब नंद सचमुच भिक्षु-वेश में प्रकट हो जाते हैं तो दर्शकों पर यह तीव्र और वांछित प्रभाव नहीं पड़ता जो कि ऐसी स्थिति में पड़ना चाहिए।

इसी प्रसंग की एक और दुर्बल कड़ी नंद के साथ भिक्षु आनंद का आना है। उनके आने का कोई स्पष्ट और सार्थक प्रयोजन नहीं है। x x भिक्षु आनंद का नंद के साथ आने का पर्याप्त कारण न होने से यह दृश्य-खंड अस्वाभाविक और कथाधारा से विलग लगता है, और आनंद का चरित्र भी नितान्त सामान्य हो गया है। x x x नंद का दीक्षित होना इस नाटकीय कथा की एक ऐसी घटना है जिसका रंगमंच पर पात्रों के द्वारा प्रस्तुतिकरण आवश्यक है, भले ही उसका निर्वाह नाटककार और निर्देशक दोनों के लिए कठिन हो जाए, और भले ही उसके कारण स्थान-अन्विति खंडित होती हो। वास्तव में, यही व्यापार-खंड इस कथा का चरम-बिन्दु है, और इसी में कथा का मूल द्वन्द्व अपनी पूरी अभिव्यक्ति पाता है।

नाटक के अंत के संबंध में भी एक महत्वपूर्ण सवाल उठता है। नंद जब भिक्षु बनकर वापस लौटता है तो वह सुन्दरी से बिना मिले ही वापस लौट जाता है। इस प्रकार आकर लौट जाने के ही कथा-अभिप्राय का अनुसरण लेखक ने 'आषाढ़ का एक दिन' में भी किया है। पात्रों को इस प्रकार के साक्षात्कार से बचाकर नाटककार कथा में एक प्रकार की रहस्य-भावना का समावेश कर देता है, और उसकी अत्यंत तीव्र और प्रत्यक्ष नाटकीय संभावनाओं को कमज़ोर कर देता है। x x x

नाटक के संवाद सुगठित, प्रयोगशील और काव्यश्री से समृद्ध है। छोटे-छोटे सुघड़ और काव्यपूर्ण नाटकीय संवाद लिखने में मोहन राकेश अत्यंत कुशल हैं।"[16]

(4) प्रतिभा अग्रवाल : (कलकत्ता) : "राकेश की दूसरी नाट्यकृति 'लहरों के राजहंस' है। इसका प्रकाशन सन् 1963 में हुआ तथापि इसकी पूर्व-पीठिका बहुत पहले बन चुकी थी और अपने अंतिम रूप को प्राप्त करने में इसे अनेक सोपानों से गुज़रना पड़ा। x x 'अनाम ऐतिहासिक कहानी' से 'सुन्दरी', 'सुन्दरी' से 'रात बीतने तक' और 'रात बीतने तक' से 'लहरों के राजहंस' तक की यह यात्रा लगा जैसे एक

पड़ाव पर पहुँची। लेकिन यह अस्थायी पड़ाव ही साबित हुआ। x x x सन 1966 में कलकत्ता की 'अनामिका' संस्था के तत्वावधान में सुप्रसिद्ध निर्देशक श्यामानंद जालान ने जब इसे प्रस्तुत करने की तैयारी शुरू की तो अनेक प्रश्न एवं शंकाएं उनके मन में उठी। x x x तय यह हुआ कि राकेश एक महीने के लिए कलकत्ता आएंगे प्रस्तुति की तैयारी देखेंगे, श्यामानंद जी से बातचीत करके तीसरे अंक का आलेख फिर से लिखेंगे क्योंकि इस अंक में मूल आलेख में बातें जिस तरह आगे बढ़ी थीं और जिस परिणाम को पहुँची थीं उससे श्यामानंद संतुष्ट नहीं थे। x x x अंततः अंतिम अंश भी लिखा गया और नाटक का मंचन हुआ। नाटक देखकर ऐसा लगा कि प्रथम दो अंक और तीसरे अंक में बड़ा अन्तर आ गया हो। इतने विचार-विमर्श एवं स्त्री-पुरूष के संबंधों को आधुनिक दृष्टि से विश्लेषित करने के फलस्वरूप तीसरा अंक जहाँ अधिक चुस्त और गंभीर हुआ वहीं वह अधिक आधुनिक भी हो गया। ऐसा लगा जैसे ढाई-हज़ार वर्ष पूर्व के भारतीय पति-पत्नी न झगड़ रहे हों, वरन् बीसवीं सदी के सातवें दशक के पाश्चात्य शिक्षा-संस्कृति से प्रभावित आधुनिक दम्पति एक दूसरे की ओर ऊँगली उठाकर इंगित करते हुए 'यू द वोमन' और 'यू द मैन' कह रहे हों। प्रथम दो अंक की परम्परागत मनःस्थिति एक बड़े झटके के साथ अति आधुनिक मनःस्थिति को प्राप्त हुई लगी। x x x फलस्वरूप फिर कुछ परिवर्तन किए गए और काफी परिश्रम के बाद सन 1968 में इसे अंतिम रूप दिया गया।"[17]

(5) **गिरीश रस्तोगी** : (गोरखपुर) : "मैंने जब 'लहरों के राजहंस' नाटक को निर्देशन के लिए चुना तो इस सत्य से सीधा साक्षात्कार हुआ और लगा कि पहली बार हिन्दी नाटक की भाषा नाटककार के अतिरिक्त मोह, नाटकीय-दृष्टि से निरर्थक शब्द-जाल के आग्रह, और साहित्यिक कला के लबादे से सहसा मुक्त हो गयी हो। लहरों के राजहंस की भाषा केवल इस माने में साहित्यिक है कि वह संस्कृतनिष्ठ हिन्दी है, लेकिन उतनी ही जितनी कि 'एक काल विशेष की पृष्ठभूमि रखने के कारण अपेक्षित यथार्थ-भ्रम की सृष्टि के लिए आवश्यक है' - यानि 'भाषा की यह सीमा कुछ शब्दों के चुनाव तक ही हैं।' x x x

मोहन राकेश की नाट्य-भाषा की पहली पहचान है भाषा और शारीरिक क्रिया का गहरा संबंध। समय, जीवन और दृष्टि के बदलने के साथ-साथ भाषा, उसकी लय, भी अपने आप बदलती जाती है। x x x हिन्दी के अधिकांश नाटकों में शब्द अलग मिलेंगे, शारीरिक क्रिया अलग। या इससे अधिक कुछ हुआ भी तो यह कि शब्द के अनुरूप ही क्रिया होगी। राकेश की नाट्य-भाषा इस जड़ता को, अस्वाभाविकता को नकारती है। यहाँ शब्द स्वयं क्रिया का काम करते हैं और क्रिया की भाषा को ढालते चलते हैं। अर्थात् भाषा और क्रिया का नियोजन, आंतरिक गठन पहली बार मोहन राकेश में मिलता है। श्यामांग की पत्तियों को तोड़ने-उलझाने की हरकत शब्द से अलग नहीं है। मुद्रा और संवाद आपस में पिरोये हुए हैं। वे दोनों

मिलकर अधिक सार्थक इसलिए भी हैं कि उनसे श्यामांग के व्यक्तित्व की उलझन, नाटक का संपूर्ण द्वन्द्व भी ध्वनित होता है।

राकेश की नाट्य-भाषा औपचारिक नहीं लगती। ऐसा नहीं लगता कि सीखी हुई भाषा के अभ्यस्त हाथों से नाटकीय स्थितियों को ढाला गया है, बल्कि भाषा स्वयं ढलती जाती है - पात्र के व्यक्तित्व, स्थिति और माँग के अनुसार। x x प्रथम अंक में नंद के मन की थकान शब्दों में जिस तरह व्यक्त की गई है, वह दर्शक, निर्देशक, अभिनेता को निकट लाती है - शब्दों में ही पूरा सजीव चित्र, अभिनय का विस्तार। उसके बाद नंद और सुन्दरी की आपसी बातचीत में इतना उतार-चढ़ाव, स्वर के इतने परिवर्तन हैं, सारी मनःस्थिति और द्वन्द्व शब्दों से इस तरह उभरते जाते हैं कि पात्र शब्द बोलने की प्रतीक्षा में नहीं लगते, स्थितियाँ उनसे अनायास बुलवाती हैं। 'कामोत्सव की बात नहीं कह सके ?' सुंदरी का यह प्रश्न एक साथ सुन्दरी के रूप-गर्व, यशोधरा से स्पर्धा-भाव, नंद को लेकर मन की आशंका को अभिव्यक्त कर जाता है।

पात्र की मनःस्थिति के अनुकूल भाषा के परिवर्तन की सूक्ष्म पकड़ राकेश में है। गहरे आंदोलन, द्वन्द्व और दर्प की अनुभूति के क्षणों में सुन्दरी प्रायः प्रश्नवाचक वाक्यों में बोलती है। श्रृंगार प्रसाधन और प्रणय प्रसंग के साथ एक पूरे रोमांटिक वातावरण की लय शब्दों से, शब्दों के ध्वनि-संयोजन से बनती-बिखरती चली जाती है। यही नहीं, केवल एक शब्द मात्र द्वारा भी, और कई जगह अनबोले शब्दों द्वारा भी अभिनेता को आंतरिक उद्भावना का पूरा अवसर मिलता है। जैसा राकेश ने कहा भी है कि 'वास्तविक अभिनय शब्दों का' नहीं, शब्दों 'के बीच' में होता है।' 'आप मुझसे कहते हैं कि मैं यह बात सोच रही थी। .. .. मुझे यही बात तो सोचनी थी। जाने कैसा-सा लगता है .. .. अपना टूटा हुआ प्रतिबिंब देखकर।' यहाँ शब्द संगति अर्थ-व्यंजना करती चल रही है। शब्दों के साथ, शब्दों के बीच में सुन्दरी के अन्तर्मंथन की लय चल रही है, वाक्यों के बीच का रिक्त स्थान अभिनय-कला को विस्तार देता है, दूसरी ओर आज के यथार्थ और आधुनिक जीवन की जटिलता को, अन्तर्द्वन्द्व को भी व्यंजित करता है।

भाषा का ऐसा सर्जनात्मक ढंग से प्रयोग ही नाटक में अपेक्षित है। यह भाषा अपने आभिजात्य गौरव में भी हमसे संबंध जोड़कर कहीं ज्यादा कहती है, और तब निर्देशक, अभिनेता, दर्शक, तीनों रचना के साझीदार बनते चले जाते हैं। x x x तीसरे अंक में नंद के लंबे-लंबे स्वगत केवल भाषा की सर्जनात्मक शक्ति के बल पर अपने आप में पूरा नाटक हैं, पूरा अभिनय हैं। भाषा की सही बनावट के कारण ही पूरा स्थिर दृश्य होते हुए भी, और एक ही पात्र के निरंतर बोलते चले जाते हुए भी आंतरिक गति पैदा होती जाती है।"[18]

(vii) 'लहरों के राजहंस' की विभिन्न प्रस्तुतियों का तुलनात्मक अध्ययन :

मोहन राकेश के अन्य नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' और 'आधे-अधूरे' की तरह 'लहरों के राजहंस' के कथ्य और रूपबंध को लेकर विभिन्न निर्देशकों एवं समीक्षकों की अलग-अलग धारणा रही है। यद्यपि रोमानी और बौद्धिक भाव-भूमि के बीच सामंजस्य और संतुलन के अभाव के कारण यह नाटक प्रदर्शन की दृष्टि से अन्य दो नाटकों की तरह सफल नहीं हो पाया। पार्थिव और अपार्थिव के दो विरोधी छोरों और उनके बीच के द्वन्द्व को पूरे नाट्यालेख में बरकरार नहीं रखा जा सका है। स्वयं राकेश इस नाटक में उभरने वाली इस चुनौती से अवगत थे जिसे उन्होंने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है :

"मैं जानता हूँ यह नाटक मेरे लिए ज़ितनी बड़ी चुनौती रहा है, उतनी या शायद उससे भी बड़ी चुनौती यह प्रस्तुतकर्ता के लिए है। नंद का अन्तर्द्वन्द्व पहले अभिनेता और फिर दर्शक तक किस रूप में संप्रेषित होता है, यह देखने की उत्सुकता हर बार मुझे भी उतनी ही रहेगी जितनी अन्य किसी दर्शक को।"[19]

अभिनेता, दर्शक एवं निर्देशक के लिए कठिन चुनौती पेश करने तथा इसके वस्तुविधान, श्यामांग प्रसंग और अंत के शिथिल होने के बावजूद इस नाटक ने देश के प्रसिद्ध रंगकर्मियों और निर्देशकों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। इस क्रम में विभिन्न निर्देशकों ने इसको अलग-अलग रूप में व्याख्यायित करने की कोशिश की है। स्वयं राकेश के अनुसार इस नाटक का केन्द्रीय सरोकार भौतिक सुख और आध्यात्मिकता के दो विरोधी छोरों की तलाश में भटकती आज के मनुष्य की द्विविधात्मक स्थिति है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (दिल्ली) द्वारा प्रस्तुत प्रदर्शन में निर्देशक ओम शिवपुरी का बल शरीरी और अशरीरी के द्वन्द्व और नन्द की निजी अस्मिता की तलाश से अधिक पति-पत्नी के पारस्परिक संबंधों के विश्लेषण पर रहा, यही कारण है कि अत्यंत भव्य, कलात्मक और प्रभावी प्रस्तुतीकरण के बावजूद इसमें तीसरे अंक का नंद-भिक्षु संवाद प्रभावहीन ही रहा। दूसरे अंक में प्रस्तुत नंद-सुन्दरी के अंतरंग एवं आत्मीय प्रसंग की तुलना में तीसरे अंक में प्रस्तुत नंद का अन्तर्द्वन्द्व असरदार नहीं रहा। नाटककार की मूल कल्पना के अनुरूप इब्राहिम अल्काज़ी की कलात्मक दृश्यबंध परिकल्पना और सौंदर्यबोध युक्त मंचसज्जा केवल रमणीय ही नहीं बल्कि प्रभावशाली भी थी। इस प्रस्तुतीकरण में बुद्ध के सम्मोहक प्रभाव तथा नंद की आत्मिक तलाश को विभिन्न रंगों एवं प्रकाश-छायाओं के माध्यम से नहीं बल्कि नेपथ्य से आते समवेत स्वरों और कुछ सूक्ष्म एवं जटिल संकेतों के माध्यम से किया गया। वस्त्राभूषण परिकल्पना और रूप-सज्जा में बौद्ध कालीन प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास किया गया। इस प्रदर्शन की संगीत योजना अत्यंत प्रभावशाली रही विशेषकर सुन्दरी द्वारा प्रस्तुत एक रोमानी गीत के टेक की हमिंग (गुनगुनाना) का असर।

कलकत्ता की सुप्रसिद्ध नाट्य संस्था 'अनामिका' द्वारा प्रस्तुत प्रदर्शन में निर्देशक श्यामानंद जालान ने प्रत्येक चरित्र को मौलिक ढंग से व्याख्यायित करने का प्रयास किया तथा स्त्री-पुरूष संबंधों के विविध आयामों की ओर ध्यान आकृष्ट करने वाले इस नाटक को सुन्दरी के जीवन की त्रासदी के रूप में प्रस्तुत किया। नाटक की यह प्रस्तुति कई अन्य विशेषताओं के साथ-साथ नाटककार, निर्देशक एवं अभिनेता की प्रस्तुतीकरण में रचनात्मक सहयोग की अद्भुत मिसाल थी। स्वयं निर्देशक के अनुसार :

"x x x उस समय तो हमारे सामने एक अच्छे नाटक को लिखने में सहायक होने की भावना ही प्रमुख थी और सोचा यह था कि इसका अच्छा प्रोडक्शन फिर कभी, बाद में फुर्सत से कर लिया जाएगा।"[20]

इस प्रस्तुतीकरण की महत्वपूर्ण विशेषता कल्पनाशील आलोक-व्यवस्था एवं संगीत भी रही जिसके द्वारा नाटकीय तनाव को उभारा गया।

'दिशान्तर' द्वारा इस नाटक का प्रदर्शन मार्च 1973 में राजिन्दर नाथ के निर्देशन में किया गया। इसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता नाट्यालेख के दृश्यबंध- संबंधी निर्देशों से स्वयं को मुक्त करके मौलिक एवं कल्पनाशील दृश्यबंध का नियोजन रहा है। संवेदनशील निर्देशन, प्रदर्शन की स्वच्छता, दृश्यबंध का कल्पनाशील उपयोग तथा गति एवं भंगिमा की मितव्ययता के बावजूद नाटक के अंत को पूरी तरह प्रामाणिक और स्वाभाविक रूप नहीं दिया जा सका।

दिसम्बर 1992 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंच द्वारा कीर्ति जैन के निर्देशन में इस नाटक का मंचन किया गया जो मौलिक प्रयोग और रचनात्मक प्रयास के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। निर्देशिका के अनुसार यह नाटक स्त्री-पुरूष संबंधों को जटिल द्वन्द्वात्मक ढाँचे में प्रस्तुत कर एक तरफ सांसारिक व असांसारिक के बीच चुनाव के दार्शनिक सवाल उठाता है तो दूसरी तरफ हर व्यक्ति की अस्तित्व की खोज के प्रश्न से भी जूझता है। इस प्रस्तुति में राग-विराग तथा यथार्थ और अमूर्त के दार्शनिक द्वन्द्व को प्रस्तुत करने के लिए यथार्थवादी और रीतिबद्ध दोनों शैलियों का उपयोग किया गया परन्तु इन दोनों धरातलों में वह सम्यक् सामंजस्य नहीं बना पाई । इसका मुख्य कारण है कि उन्हें नाटक के यथार्थ धरातल अर्थात् स्त्री-पुरूष संबंधों के जटिल किन्तु आवेगपूर्ण और रागात्मक रूप ने ही अधिक प्रभावित किया। इस वजह से उन्होंने 'सौंदरानन्द' के कुछ पदों के हिन्दी अनुवाद का नाटक में प्रयोग किया जो मानवीय संबंधों के आकर्षण और मांसलता को सघन रूप में व्यक्त करने में सहायक हुआ। इसके साथ ही कोरस की परिकल्पना और संगीत ने प्रेम-प्रसंग के दृश्यों को अद्भुत रमणीयता, गहनता और जीवंतता प्रदान की, लेकिन इस प्रक्रिया में मानवीय अन्तर्द्वन्द्व के अनेक सूक्ष्म एवं जटिल आयाम उद्घाटित होने से वंचित रह गए। मूर्त-अमूर्त कार्य-व्यापार को एक साथ अभिव्यक्त करने के लिए नाटक को व्यंजनात्मक मंच-भूमि पर विरोपित करने का प्रयास किया गया जहाँ एक ओर यथार्थ की अभिव्यक्ति थी तो दूसरी ओर व्यंजना भी। प्रस्तुति-

विन्यास के सभी पक्षों-मंच परिकल्पना, संगीत-विधान, प्रकाश-योजना, पात्रों की गति-भंगिमाएँ आदि में इन्हीं दोनों स्तरों को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। संगीत में राकेश की नाट्यभाषा का लयात्मक नाद-सौंदर्य, बौद्ध-गीत के गुंजन स्वर और अश्वघोष के पदों के गायन ने प्रदर्शन को निश्चय ही प्रभावशाली एवं सघन बनाने का काम किया।

'प्रयाग रंगमंच' इलाहाबाद द्वारा 15 दिसम्बर 1963 को सत्यव्रत सिन्हा के निर्देशन में 'लहरों के राजहंस' का प्रथम प्रस्तुतीकरण किया गया। निर्देशक ने एक ओर तीसरे अंक की दुर्बलता को नाटक की असफलता का मूल कारण माना तो दूसरी ओर दूसरे अंक की श्रेष्ठता को 'कार्य' और 'भाषा' के सौंदर्य से जोड़कर देखा। उनके अनुसार यह अंक नाट्य-भाषा पर फिर से सोचने के लिए प्रेरित करता है।

डॉ. गिरीश रस्तोगी एवं डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव के संयुक्त निर्देशन में 1969 में गोरखपुर की महत्वपूर्ण नाट्य संस्था 'रूपान्तर' द्वारा इस नाटक का प्रदर्शन किया गया जिससे रंगप्रेमियों में नये नाटक की पहचान, अभिनय कला की सूक्ष्मता, रंगमंच की आधुनिक तकनीक तथा समकालीन हिन्दी नाटक की उपलब्धियों की पहचान हुई। इस नाटक में ऐतिहासिक परिवेश में आधुनिक व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व, प्रतीकात्मकता, नाटकीयता एवं गतिशीलता जैसे विरल गुणों के साथ-साथ परिवेश की भव्यता, दृश्यबंध का आकर्षण और रोमानी वातावरण की रमणीयता जैसे अनेक गुण मौजूद थे, जिसने निर्देशकों को प्रस्तुतीकरण के लिए प्रेरित किया। नाट्यालेख में कोई परिवर्तन नहीं किया गया और प्रदर्शन को नाटककार की इच्छा और परिकल्पना के अधिकाधिक निकट रखने का प्रयत्न किया गया।

ऊषा धवन ने 1974 में ज्ञान आर्ट्स, चंडीगढ के तत्त्वावधान में इस नाटक को नृत्य-नाटिका के रूप में प्रस्तुत करके एक अभिनव प्रयोग किया। यद्यपि यह प्रस्तुति मूल नाटक से बिल्कुल अलग-थलग थी, और किसी महत्वपूर्ण उपलब्धि का अहसास नहीं कराती, फिर भी सुन्दरी के श्रृंगार प्रसंग में किए गए नृत्य की योजना उल्लेखनीय है, जिसमें शरीर के आयामों का अत्यंत कुशल एवं रचनात्मक उपयोग किया गया।

'अभिनेत' द्वारा 1975 में डॉ. वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता के निर्देशन में इस नाटक का प्रस्तुतीकरण किया गया जिसका मुख्य उद्देश्य नंद और सुंदरी की प्रेमकथा नहीं था, अपितु इस शाश्वत सत्य का उद्घाटन करना था कि अपनी मुक्ति का रास्ता हर व्यक्ति को स्वयं खोजना होता है। नाटक को प्रोसीनियम प्रेक्षागृह में किया गया, जिसका दृश्यबंध सांकेतिक था। वस्त्राभूषण एवं रूप-विन्यास को परिवेश के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया गया। नंद के लंबे एकालाप को संक्षिप्त किया गया और पंजाबी-भाषी दर्शकों को ध्यान में रखकर संस्कृत के शब्दों को बदलकर आसान बनाने की कोशिश की गई। किन्तु सुचिंतित एवं नयनाभिराम होने के बावजूद तीसरा अंक शिथिल पड़ गया एवं कल्पनाशील निर्देशन तथा अभिनय तकनीक और रंग-कौशल

की समृद्धि के बावजूद यह नाटक अन्य प्रस्तुतियों की तरह कलात्मक दृष्टि से उल्लेखनीय होते हुए भी सघन नाट्यानुभूति देने में असफल रहा।

अरूणिमा आर्ट्स, दिल्ली ने 1976 में वीरेन्द्र भार्गव के निर्देशन में 'लहरों के राजहंस' का मंचन किया, जिसमें फिल्मी प्रभाव की अधिकता रही और भारी खर्च, अपरिमित निष्ठा और काफी परिश्रम से तैयार की गई यह प्रस्तुति सफल रंगानुभूति के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकी।

कला संगम पटना के द्वारा 1978 में सतीश आनंद के निर्देशन में 'लहरों के राजहंस' के दो प्रदर्शन हुए जिसमें स्त्री-पुरूष संबंधों के राग-विराग की कथा के माध्यम से जीवन के पार्थिव-अपार्थिव मूल्यों के संघर्ष को व्यक्त किया गया। दृश्यबंध के लिए इस प्रदर्शन में विविध धरातलों का इस्तेमाल किया गया तथा सेट भव्यता एवं समारोह का आभास देने के बावजूद अभिनय के लिए पर्याप्त स्थान छोड़ता था एवं कई खंडों में बँटा प्रतीत होता था। स्त्री-पात्रों का वस्त्र-विन्यास आकर्षक था, लेकिन पुरूष पात्रों की रूप-सज्जा में परिवेश जन्य प्रामाणिकता एवं कल्पनाशीलता का अभाव था।

फैज़ल अल्काजी के निर्देशन में 'रुचिका' (1980) द्वारा प्रस्तुत इस नाटक में निर्देशकीय सूझ-बूझ, कल्पनाशीलता और सृजनात्मक संपादन का प्रमाण मिलता है। स्त्री और पुरूष में से किसी का भी पक्ष न लेते हुए तटस्थ भाव से पात्रों और स्थितियों का प्रस्तुतीकरण इस प्रदर्शन की महत्वपूर्ण विशेषता थी। निर्देशक इस नाटक की मूल आत्मा और चेतना को पकड़ने में काफी दूर तक सफल रहे तथापि तीसरे अंक से भिक्षु आनंद के चरित्र को निकाल देने से नंद के अन्तर्द्वन्द्व का एक प्रमुख आयाम छूट गया। इसके साथ-साथ इस सत्य को भी नकांरा नहीं जा सकता कि इसीके कारण नंद और सुंदरी की टकराहट में अधिक प्रखरता, पुनरूक्ति दोष से बचाव, आलेख में कसावट तथा प्रस्तुति की गति में तीव्रता एवं एकाग्रता आई है। मौन और विराम के नाटकीय प्रयोग द्वारा सघन नाट्य क्षणों को मुखर बनाने का प्रयास भी इस प्रदर्शन की उल्लेखनीय विशेषता है। नाटककार द्वारा कल्पित दृश्यबंध से हटकर निर्देशक ने अपनी दृश्यबंध परिकल्पना में दायीं और बायीं ओर की दो दीवारों के लिए अजन्ता शैली के दो भव्य भित्ति चित्रों का प्रयोग किया। प्रवेश स्थान के लिए चार मार्ग निर्धारित किए गए। चबूतरे और दाईं ओर के भित्ति-चित्र के बीच के स्थान को साइक्लोरामा तक एकदम खुला छोड़ दिया गया जिससे दृश्यबंध को गहराई का अद्भुत आयाम मिला। प्रकाश-योजना का कल्पनापूर्ण उपयोग किया गया। इन तमाम विशेषताओं के बावजूद यह प्रदर्शन भी सर्वांगपूर्ण और त्रुटिविहीन नहीं रहा।

'लहरों के राजहंस' के पूर्णतः सफल प्रदर्शन न हो पाने का एक प्रमुख कारण इसमें रोमानी एवं बौद्धिक भावभूमि के बीच संतुलन का अभाव है। निर्देशकों ने प्रायः जटिलता से बचने के लिए अपने प्रस्तुतीकरणों को रोमानी धरातल पर ही प्रस्तुत किया है, जिसमें स्त्री-पुरूष के रागात्मक संबंध को प्रधानता दी गई है। यही कारण है कि इस नाटक का कोई भी प्रदर्शन कथ्य की जटिलता और समग्रता को पूरी तरह

नहीं पकड़ पाया है। संभव है कल्पनाशील निर्देशक एवं समर्थ अभिनेता के रचनात्मक प्रयास द्वारा नाटक की जटिल एवं द्वन्द्वात्मक स्थिति को भविष्य में सफलता के साथ प्रदर्शित किया जा सके।

(viii) लेखक, निर्देशक एवं समीक्षक के आईने में आधे-अधूरे :

लेखकीय :

"अधूरे का मतलब है 'इनकम्पलीट' और आधे का मतलब 'हाफ' है। यह आज के सामान्य वर्ग से संबंधित है जो अपने आप में 'आधा' भी है और 'अधूरा' भी। यह इस शहर के एक मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है जिसे परिस्थितियाँ नीचले वर्ग की ओर धकेलती जा रही हैं। उनके जोश पराजय, इच्छाएँ, संघर्ष और इसके साथ-साथ स्थिति का हाथ से फिसलते जाना - मैंने सब कुछ उसमें दिखाने की कोशिश की है। इसका मुख्य पात्र एक कार्यशील महिला है। उसके इर्द-गिर्द चार पुरूष हैं - उसका पति, उसका बॉस, पति के व्यवसाय में पहले वाला हिस्सेदार जिसे वह अपने पति की तबाही का कारण मानती है - पति प्रासंगिक रूप से धर पर रहता है और एक घेले की भी कमाई नहीं करता। वह अपने पार्टनर के साथ किसी व्यापार में अपना सब कुछ गँवा चुका है। चौथा व्यक्ति औरत का पहला प्रेमी है। x x x अब वह चालीस के लगभग है जिसके है इक्कीस साल का लड़का, उन्नीस साल की एक लड़की जो पहले ही किसी के साथ भाग गयी है और एक और लड़की जो लगभग चौदह की है। यह औरत हो मुख्य पात्र है और मैं चाहता हूँ कि चारों पुरूष पात्र एक ही अभिनेता द्वारा खेले जायें। मैं जो बात बताना चाहता हूँ वह यह है कि अपनी परिस्थिति के लिए व्यक्ति अकेला जिम्मेवार नहीं होता, क्योंकि स्थितियाँ कुछ भी होतीं, उसे बार-बार उसी का चुनाव करना पड़ता। जिन्दगी में व्यक्ति कुछ भी चुने उसमें एक विशेष 'आइरनी' होती है, क्योंकि परिस्थितियाँ फिर - फिर वहीं बन जाती हैं।"[21]

(1) त्रिपुरारि शर्मा : "आधे - अधूरे नाटक का ढाँचा बहुत सावधानी से बनाया गया है और बहुत ही बारीक विशिष्ट बुनावट है। नाटक के हर वाक्य, हर शब्द में दर्द, क्षोभ और विडम्बना संवादों से झाँकती है। नाटक उकसाता भी है और जबरन हमें अपने से जोड़ लेता है। अक्सर मन करता है विरोध करने का, कुछ कहने का, अपनी फटेहाल अधूरी जिन्दगी को पूरा करने का, हाँ, शहरी जिन्दगी के रोजमर्रा जीवनयापन और आपसी व्यवहार का इस नाटक से गहरा नाता है। एक स्तर पर नाटक एक ऐसे परिवार के बारे में है जिसकी जड़ें कहीं नहीं जम पाई, यह एक ऐसी संस्कृति के बारे में भी है, मध्यवर्गीय परिवार धीरे-धीरे जिस पर आश्रित हो गये, ऐसी

आकांक्षाओं की संस्कृति जिसमें वो गर्माहट व आश्वासन नहीं जो निश्चितता से पैदा होती है अविकासशील समाज को सहारा देनेवाले ढाँचे अभी तक तैयार नहीं हुए। अकेलेपन की भयानकता और बदलाव को यह नाटक पकड़ता है। X X X एक सुखी परिवार के मिथक को यह नाटक साफ-साफ तोड़ देता है। स्थिरता का आधार विवाह है, इस बात पर गहरे प्रश्न हैं, पतिव्रत्या मांग है। कई अर्थों में यह आदमियत के अधूरेपन का नाटक है, सीमाहीन और व्यक्तिवादिता असहिष्णु है, सब पर काबिज है दूसरों की कमियों के साथ।

यह नाटक अपने आप में एक पूरा संसार है, एक ऐसा संसार जो पहले व्यक्ति ने रचाया है काले लिबास वाले व्यक्ति ने, जिसके तजुर्बे और जिसकी नज़र का रंग इस संसार पर काबिज़ है। चूँकि उसने काला चुना है यह सारे स्थान में फैल जाता है। X X X जुनेजा के शब्दों में स्वीकृत नैतिकता, जो सामाजिक रस्म रिवाज़ से पैदा हुई है, गूँजती है, उसमें दुहरापन है, फिरभी उसका कहना है कि अलग-अलग मुखौटों के नीचे चेहरा एक ही है - इसलिए सावित्री की तलाश बेमानी है। सावित्री नहीं मानती। वो केवल भूमिकाओं से बँधी औरत ही नहीं, बल्कि, मानवीय आत्मा है जो अपने सुख की खोज, शांति और सुन्दरता और मंजिल में संतुलन की खोज स्वयं करती है। और ऐसा लगता है कि नाटक में होने वाली घटनाओं का दोष सावित्री का है, लेकिन यह इसलिए कि वो ही जिम्मेदारी उठाती है, औरों से कम भगोड़ी है। हमने उसे परखने की कोशिश की है, उसे समझने की, उसकी कुंठाओं, इच्छाओं और टूटन को समझने की कोशिश। इस घर के बच्चे कई अर्थों में संक्रमणकालीन समाज की पैदाइश हैं। अशोक को लगता है घर निश्चित रूप से टूटा है। बिन्नी की कोशिश है कि सब कुछ बँधा रह सके, इस प्रक्रिया में वो ऐसी धुरी बन जाती है जिसके इर्द-गिर्द सारी स्थितियाँ घूमती है। किन्नी जैसे घर की आत्मा हो, तरसती हुई कि कोई उसे प्यार करे, कोई उसकी तरफ भी ध्यान दे। घर उन सब में प्रमुख है और वो घटनाओं को आकार देता है - यह चक्र चलता रहता है। क्या चलना ही चाहिए ? शायद नाटक धीरे से अस्पष्ट स्वर में यही प्रश्न करता है।"[22]

ओम शिवपुरी : (नई दिल्ली/बम्बई) :

"एक दिग्दर्शक की दृष्टि से 'आधू-अधूरे' मुझे समकालीन जिंदगी का पहला सार्थक हिन्दी नाटक लगता है। यह मौजूदा जीवन की विडम्बना के कुछेक सघन बिंदुओ को रेखांकित करता है। इसके पात्र, स्थितियाँ एवं मनःस्थितियाँ यथार्थपरक तथा विश्वसनीय हैं। इसका गठन सुदृढ एवं रंगोपयुक्त है। पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान रंगप्रभावों की दृष्टि से भली-भाँति संयोजित हैं। पूरे नाटक की अवधारणा के पीछे सूक्ष्म रंगचेतना निहित है। X X X

कहना न होगा कि इस नाटक की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी भाषा है। इसमें वह सामर्थ्य है जो समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ सके। शब्दों का

चयन, उनका क्रम, उनका संयोजन - सब कुछ ऐसा है, जो बहुत संपूर्णता से अभिप्रेत को अभिव्यक्त करता है। लिखित शब्द की यही शक्ति और उच्चरित ध्वनि-समूह का यही बल है, जिसके कारण यह नाट्य रचना बंद और खुले, दोनों प्रकार के मंचों पर अपना सम्मोहन बनाये रख सकी।

जहाँ तक अधिनिरूपण का सवाल है, 'आधे-अधूरे' मेरे लिए कई दृष्टियों से अर्थवान है। यह आलेख एक स्तर पर स्त्री-पुरूष के बीच के लगाव और तनाव का दस्तावेज है। x x x

एक दूसरे स्तर पर यह नाट्य-कृति पारिवारिक विघटन की गाथा है। इस अभिशप्त कुटुंब का हर एक सदस्य एक-दूसरे से कटा हुआ है। घर की त्रासदायक 'हवा' से वे सब अपने और एक दूसरे के लिए ज़हरीले हो रहे हैं। x x x

एक अन्य स्तर पर यह नाट्य-रचना मानवीय संतोष के अधूरेपन का रेखांकन है। जो जिंदगी से बहुत कुछ चाहते हैं, उनकी तृप्ति अधूरी ही रहती है। महेन्द्रनाथ, सिंहानिया, जगमोहन और जुनेजा - ये अलग-अलग गुणों के चार पुरूष हैं। चुनाव के एक क्षण में सावित्री ने महेन्द्रनाथ के साथ गाँठ बाँध ली और आगे चलकर अपने को भरा-पूरा महसूस नहीं किया। लेकिन अगर वह महेन्द्रनाथ की बजाय जगमोहन से रिश्ता जोड़ती, तब भी अनुभूति वही रहती, क्योंकि तब जगमोहन में जुनेजा के गुण नहीं मिलते .. .. ..

एक दूसरे स्तर पर यह नाटक मेरे लिए व्यक्तियों की विभिन्नता के बावजूद मानवीय अनुभव की समानता का दिग्दर्शन है। इसके लिए नाटककार ने एक ही अभिनेता द्वारा पाँच पृथक भूमिकाएँ निभाये जाने की दिलचस्प रंगयुक्ति का सहारा लिया है। महेन्द्रनाथ की जगह पर जगमोहन को रख देने से स्थिति में कोई बुनियादी अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि समान परिस्थितियों के ढाँचे में व्यक्ति लगभग समान ढंग से बर्ताव करता है। इसी अनुभव पर बल देने के लिए कुछेक प्रदर्शनों में नाटक की शुरूआत के साथ एक स्पॉट कमरे में लगे मुखौटे को आलोकित करता था।

आधे-अधूरे का कार्यस्थल मकान का बैठने का कमरा है, जिसमें सोफे, कुर्सियां, आलमारी, किताबें, फाइलें आदि हैं। यह कमरा एक समय साफ-सुथरा रहा होगा, पर सालों की आर्थिक कठिनाई के कारण अब सब पर धूल की तह जम गई है। क्राकरी पर चटखन है। दीवारें मटमैली हो गई हैं। परिवार का हर सदस्य एक दूसरे से कटा हुआ है। घर की हवा तक में उस स्थायी तल्खी की गंध है, जो पाँचों व्यक्तियों के मन में भरी हुई है - ऊब, घुटन, आक्रोश, विद्रूप .. .. दम घोंटने वाली मनहूसियत जो मरघट में होती है।

इस तनावभरे वातावरण में सम्प्रेषण के लिए मुझे पहले 'बाक्स सेट' ही उपयुक्त लगा और कई प्रारंभिक प्रदर्शनों में उसे ही अपनाया गया। साथ ही कुछेक प्रदर्शनों में नाटक के शुरू और अंत में ऐसे पार्श्व-संगीत का व्यवहार किया गया, जिसकी ध्वनि-तरंगें श्मशान भूमि की संत्रस्त वीरानगी को सम्प्रेषित करती थीं। नाटक

के शुरू के कुछ प्रदर्शन बंद प्रेक्षागृहों में हुए। जब मुक्ताकाशी 'त्रिवेणी' में प्रदर्शन की बात आयी, तो कुछ मित्रों ने शंका प्रकट की कि संभवतः नाटक खुले मंच के लिए उपयुक्त नहीं है x x x बंद और खुले प्रेक्षागृह के अंतर से नाटक की प्रभावान्विति पर कोई असर नहीं पड़ा। दर्शक के साथ तादात्म्य उतना ही तीव्र और गहन रहा। इन्हीं दिनों यह अनुभव हुआ कि 'बाक्स सेट' कई व्यावहारिक मुश्किलें पैदा करता है। इसलिए हिम्मत करके मैंने 'बाक्स सेट' का भी व्यवहार छोड़ दिया और इससे भी प्रस्तुति के प्रभाव में कोई अंतर नहीं महसूस किया गया।

मैं प्रदर्शन में सादगी का कायल हूँ। इसलिए प्रकाश-व्यवस्था में भी किसी तरह के लटके नहीं थे। नाटक के लिए उपयुक्त सादी आलोक पद्धति थी। प्रारंभ में कुछेक स्पाट घर की विभिन्न चीजों को आलोकित करते थे, फिर हाउस-लाइट में घुलमिल जाते थे। इस प्रकार दूसरे अंक के शुरू में दो स्पाट 'लड़के' और 'बड़ी लड़की' को आलोकित करते थे, फिर एक प्रकाश-व्यवस्था में सम्मिश्रित हो जाते थे।

वेशभूषा के पीछे भी यही दृष्टि थी। प्रमुख पुरूष-अभिनेता को पाँच भूमिकाएँ करनी थी। इसके लिए वह केवल एक ऊपरी वस्त्र बदलता था - सबसे पहले काला सूट (काले सूट वाला आदमी), फिर कोट उतारकर केवल कमीज़ (महेन्द्रनाथ), फिर बंद गले का कोट व टोपी (सिंहानिया) आगे हाई नैक की कमीज़ (जगमोहन) और फिर लंबा कोट (जुनेजा)। बिन्नी, किन्नी और अशोक की पोशाकों में कोई परिवर्तन नहीं था। केवल सावित्री दूसरे अंक के लिए साड़ी बदलती थी, क्योंकि वह स्थिति की माँग थी।

प्रस्तुति की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता थी रूप सज्जा (मेकअप) का न होना। नायिका केवल वही रूपसज्जा (मेकअप) किए हुए थी, जो उस जैसी स्त्री वास्तविक जीवन में करती है। इसके अलावा किसी कलाकार ने पाउडर इत्यादि छुआ भी नहीं था।

इस प्रदर्शन की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी नाटककार और निर्देशक का पारस्परिक सहयोग। पहले पूर्वाभ्यास से ही राकेश जी साथ थे और पहले प्रदर्शन तक वे बराबर इस कलात्मक यात्रा के सहयात्री रहे। x x अनेक बार मतभेद भी हुए, लंबे - वाद - विवाद भी, लेकिन अंतिम रूप में जो नाट्य परिणाम सामने आया, उसे लेकर हम दोनों ही सहमत थे, अर्थात् प्रस्तुति में ऐसा एक भी तत्व नहीं था, जिससे या तो मैं असहमत था या राकेश जी।" [23]

सत्यदेव दुबे (बम्बई) :

"x x इस नाटक ने इस मिथक को ध्वस्त कर दिया कि हिन्दी नाटककार समकालीन स्थितियों और हमारे जीवन से जुड़े हुए चरित्रों को लेकर नाटक नहीं लिख सकता। 'आधे-अधूरे' साहित्य और रंगमंच दोनों पर खरा उतरा। आज तक भारत में कहीं भी हिन्दी नाटक में प्रस्तुत होनेवाले नाटकों में वह सबसे सफल है।

यह नाटक एक टूटते हुए मध्यवर्गीय परिवार के बारे में है। इसके केन्द्र में है सावित्री, तीन बच्चों की माँ और एक नाकामयाब पुरूष की पत्नी। परिवार को बचाने के लिए सारे उतार-चढ़ाव का सामना करने के साथ-साथ वह संपूर्ण पुरूष की भी तलाश में है। उसका संपूर्ण मोहभंग, और उससे पैदा होनेवाली मध्यवर्गीय अस्तित्व के स्तर पर हताशा, एक सुगठित स्थिति में उजागर हुई है जिसमें सावित्री के जीवन में आनेवाले चार पुरूषों का अभिनय एक ही अभिनेता से कराने की प्रभावी रंगमंचीय युक्ति का प्रयोग किया गया है। इस नाटक में सारे चरित्रों की त्रासद परिणति, कुंठा, अपमान और तनाव इतनी सघनता से उभारे गये हैं जो स्ट्रिंडबर्ग और यूजीन ओनील की याद दिलाती है। भाषा इतनी झुलसा देने वाली है कि 'वर्जीनिया वुल्फ से कौन डरता है' के लेखक को इर्ष्या हो। एक भी विवादी स्वर नहीं। और चरित्र, जहाँ वे लगभग कैरीकेचर जैसे हो जाते हैं, जैसे सिंहानिया, वहाँ भी जीवन्त बने रहते हैं। x x x

शब्दों से राकेश का लगाव एक शानदार मनोग्रंथि की हद तक था। यद्यपि अन्य भारतीय भाषाओं में दूसरे समकालीन लेखकों ने भी नये मुहावरे का समावेश किया है, पर कोई भी इस समस्या से राकेश की तरह गहराई से नहीं जूझा।"[24]

श्यामानंद जालान (कलकत्ता) : "मैं स्त्री-पुरूष संबंधों को इस नाटक की विषय-वस्तु और सावित्री को केन्द्रीय पात्र मानता हूँ। इन मुख्य सूत्रों के बीच इस नाटक में समकालीन जीवन के अनेक धूप-छाँही चित्र और ढाँचे बुने हुए हैं।

'आधे-अधूरे' मोहन राकेश द्वारा एक जीवन्त नाट्य रूप और हिन्दी नाट्य-लेखन में नाटकीय संवाद की खोज का चरम-बिंदु है। यह उनके स्त्री-पुरष संबंधों के अन्वेषण की एक कड़ी होते हुए भी यहाँ एक तरह की स्वीकृति पर पहुँच गये हैं। x x x नन्द सुन्दरी को छोड़कर चला जाता है, और प्रश्न शून्य में लटका रह जाता है, संघर्ष के एक ऊपरी हल के साथ। 'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास भी मल्लिका को छोड़कर चला गया था। पर 'आधे-अधूरे' में महेन्द्रनाथ लौट आता है और संघर्ष जारी रहता है। क्योंकि वास्तव में कोई हल, कोई अन्तिम समाधान ही नहीं।

x x अर्थ और ध्वनि दोनों के माध्यम से न सिर्फ विचार बल्कि भावावेग के संप्रेषण की भी, 'आधे-अधूरे' की प्रभावी भाषा उसी खोज की उपलब्धि है।"[25]

इब्राहिम अलकाज़ी (नई दिल्ली) : "जब मोहन राकेश कृत 'आधे-अधूरे' पहली बार दिल्ली में सन् 1969 में प्रदर्शित हुआ, तो भारतीय दर्शक समुदाय पर उसका वैसा ही तीखा प्रभाव पड़ा, जैसा कि मेरा अनुमान है कि जॉन ऑसबर्न के नाटक 'लुक बैक इन एंगर' का पाँचवे दशक में ब्रिटेन में पड़ा होगा। जहाँ एक ओर समीक्षकों ने इसे आधुनिक भारतीय रंगमंच में एक अन्यतम कृति और हिन्दी नाटक में पहली गंभीर उपलब्धि माना, वहीं दूसरी ओर कलात्मक दृष्टि से असार्थक लेखन

कहकर इस पर प्रहार भी किया गया जो मध्यवर्ग का ऐसा एकतरफा विरूपित चित्रण करता है, जिसकी कोई सामाजिक प्रासंगिकता नहीं। लेकिन समीक्षकों की यह धारणा उन दर्शक-समुदायों ने झूठी साबित कर दी, जो एक ओर बड़ी-बड़ी संख्याओं में इसे देखने आये तो दूसरी ओर बड़ी ही ग्रहणशीलता से इसकी विस्फोटक सघनता के सम्मुख नतशिर भी हुए। x x

यह नाटक मध्यवर्गीय जीवन की शुष्क, विनाशकारी रिक्तता का प्रखर दस्तावेज़ है और विकृत मूल्यों, भ्रान्तियों एवं दोगली नैतिकता का निर्मम अनावरण है जो उस रिक्तता के कारण है। इसके केन्द्र में पत्नी के वे प्रयत्न है, जो वह अपने बिखरते परिवार को बाँधने के लिए करती है।

मध्यम वर्ग के अन्य अपेक्षया समृद्ध स्तर भी राकेश द्वारा निर्ममतापूर्वक अनावृत्त हुए हैं। यहाँ सिंहानिया जैसा भ्रष्ट एवं असंस्कृत व्यवसायी है, जिसके लिए हर एक काम एक व्यावसायिक सौदा है। x x फिर पत्नी का पुराना प्रेमी जोग है, जिसके लिए स्त्रियों की चाहत एक हृदयहीन, नपा-तुला खेल है। x x अंत में जुनेजा आता है, x x जो अंतिम दृश्य में पत्नी की भ्रांतियों, आकांक्षाओं एवं आत्मवंचना को बेरहमी से उधेड़कर रख देता है, लेकिन जो अपनी साफगोई और दूसरे की कमियों का अनावरण कर देने के अपने गुण के बावजूद स्वयं भी बहुत रुचिकर चरित्र नहीं है।

दृश्यबंध में टूटे-फूटे फर्नीचर का ढेर है, दीमक लगी फाइलें, लकड़ी और लोहे के टुकड़े, फटी पत्रिकाएँ, गंदे प्याले और तश्तरियाँ। ये सब घुटन और अकेलेपन के आतंक के वातावरण को सघन करते हैं, और पात्रों के बिखरे जीवन का प्रतीक है।

नाटक की भाषा सादी, सच्ची और एक समान तनाव भरी है। इसमें एक ओर जहाँ बोल-चाल की भाषा की लय और उसकी बुनावट है, वहीं दूसरी ओर सहज प्रवाह एवं स्वतः स्फूर्तता भी है। अनुभूति की सूक्ष्मता को प्रकट करने वाले ध्वनि और मौन के समन्वय की गहरी समझ रखने वाला केवल एक श्रेष्ठ रचनाकार ही वह उपलब्ध कर सकता था जो राकेश ने किया है। 'नाटकीय शब्द' के लिए राकेश का सम्मोहन उनकी खोज का एक हिस्सा है - अस्तित्व के जटिल, गहरे एवं सूक्ष्म स्तरों की अभिव्यक्ति के लिए, और उस भाषा को पकड़ने के लिए, जिसमें हमारे समय के विखंडित व्यक्तियों के प्रामाणिक स्वर बोल सकें।"[26]

सुशील चौधरी : (नई दिल्ली) : "मैंने आधे-अधूरे इसलिए चुना क्योंकि वह ऐसी आम जिंदगी के बारे में है जिसे हम मध्यवर्गीय समाज में हर रोज़ देखते हैं। मगर नाटक की खूबी सिर्फ इसी बात में नहीं है। उसकी सबसे बड़ी खूबी है इस साधारण विषय-वस्तु को असाधारण ढंग से प्रकट करने की सृजन क्षमता।

इसकी विषय-वस्तु तो बहुत ही सहज है। x x पर मुझे लगता है कि मामूली चीज़ को भी अपनी कुशलता से नाटकीय बना देने वाले हो तो सच्चे नाटककार होते हैं। मनुष्य के अपने द्वन्द्व को लेकर, संघात को लेकर, बहुत से नाटक मिलते हैं, जैसे

बादल सरकार के नाटक। फिर मनुष्य और उसके परिवेश को लेकर नाटकीयता हमें विजय तेंदुलकर के नाटकों में मिलती है। मगर एक ओर मनुष्य का अपने भीतर का द्वन्द्व और दूसरी ओर आज के मध्यवर्ग की आर्थिक अवस्था और उसका प्रभाव एक परिवार के लोगों के भीतर कितनी दूर तक सक्रिय हो सकता है - यह बड़े तीखे ढंग से 'आधे-अधूरे' में सामने आता है।

यह कहना मेरे लिए कठिन है कि मैंने इसके निर्देशन में कितनी स्वतंत्रता ली। यह तो सच है कि नाटक की गतियों, संरचनाओं, दृश्यबंध और प्रकाश-योजना को तैयार करने में मैं नाटककार के निर्देशों के अनुसार नहीं चल सका। पर मैंने इस बात की पूरी कोशिश की कि मेरे किसी काम से नाटककार का कथ्य न बदले।"[27]

अमाल अल्लाना : (नई दिल्ली) : "'आधे-अधूरे' की बहुत बड़ी विशेषता नाटककार की रंगमंच की भाषा के प्रति गहरी समझ है। नाटकीय उपलब्धियों के लिए अमूर्त काव्य आदि साहित्यिक रूढियों का मोह छोड़कर 'आधे-अधूरे' रोजमर्रा के जीवन्त यथार्थ को प्रस्तुत करता है। x x यह अपरिभाषित एवं जटिल यथार्थ केवल इस नाटक के कथ्य का ही नहीं बल्कि इसमें प्रयुक्त भाषा का भी निर्धारण करता प्रतीत होता है। इस प्रकार कथ्य एवं रूप ने एकाकार होकर इस नाटक का रूप लिया जिसके आधार पर इसे आधुनिक नाट्य-लेखन में 'क्लासिक' की संज्ञा दी जा सकती है।

x x इस नाटक की शक्ति घोर साहित्यिक एवं कृत्रिम भाषावली से मुक्त है। यह वो सहज भाषा है जो हम रोज़मर्रा की जिन्दगी में बोलते हैं, किन्तु जिसमें हमारे सभी अनकहे भावों की कसमसाहट मौजूद है और प्रकटतया बिना काव्यात्मक होते हुए भी जिसमें काव्य का अनुपम सौंदर्य है।

संप्रेषणीयता के साथ-साथ भाषा में ध्वनियों की सजगता भी शामिल है। ध्वनियां, जैसे अशोक की कैंची की ध्वनि, टिनकटर, कप-प्लेटों की या महेन्द्र के फाईल झटकने की आवाजें आदि जो एक ऐसा वातावरण निर्मित करती हैं जिसमें चरित्रों की आंतरिकता मुँह से बोलने की अपेक्षा अधिक मुखर हो उठती है। इन आवाज़ों और कुछ दृश्य-बिंबों के अतिरिक्त मोहन राकेश ने, अपने मंच-निर्देश के अनुसार कुछ अल्प रोजमर्रा के हाव-भावों का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप से किया है। x x x इन भावों में चरित्र की आंतरिक वेदना एवं खोयापन अपनी पूरी शक्ति एवं समग्रता से प्रकट होता है।

'आधे-अधूरे' में मोहन राकेश द्वारा नाट्य संरचना की दृष्टि से अपनी लोक परंपरा से लिया गया सूत्रधार का प्रयोग, जो सभी चरित्रों का अभिनय करता है, आधुनिक हिन्दी नाट्य लेखन में महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस परंपरा का निर्वाह पूरे नाटक की मूल विषय-वस्तु के ताने-बाने में इतने कौशल के साथ किया गया है कि आरोपित न प्रतीत होकर नाटक के कथ्य का एक अनिवार्य अंग बन जाता है।

x x प्रस्तुति में लोक परंपरा को आगे बढ़ाते हुए छः सदस्यों का कोरस भी शामिल किया गया है, जो सूत्रधार का विकसित रूप है। कोरस चरित्रों की आन्तरिक भाषा को शब्द देता है तथा कई बार मंच निर्देश भी बोलता है। x x अप्रिय एवं कर्कश संगीत का प्रयोग मात्र नाटकीय चरमोत्कर्ष के लिए ही नहीं है, बल्कि चरित्रों के जीवन में व्याप्त कटुता एवं कर्कशता को प्रकट करने के लिए है।

इस प्रस्तुति में घोर यथार्थवादी एवं अतिनाटकीय तत्वों का सामंजस्य करने का प्रयत्न किया गया है जिसके माध्यम से नाटक का मूल कथ्य अपनी पूरी प्रखरता से उजागर होता है, जिसका संबंध एक मध्यमवर्गीय परिवार की भयानक स्थिति, उनका झूठा दिखावा और पारिवारिक संबंधों की असफलताओं के सत्य का सामना न करने की नपुंसकता से है।"[28]

(ix) 'आधे-अधूरे' की प्रमुख प्रस्तुतियों की समीक्षा :

आधे-अधूरे के देशव्यापी बहुभाषी सफल प्रदर्शनों और उसकी अभूतपूर्व लोकप्रियता ने उसके विषय में व्यक्त किए गए संदेहों और आरोपों का समुचित उत्तर दे दिया है। इस नाटक को संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार तो मिला ही, दूरदर्शन, रेडियो, रंगमंच और फिल्म के विविध माध्यमों में भी आश्चर्यजनक सफलता मिली। इसी वजह से राकेश को फिल्म सेंसर बोर्ड की सदस्यता, नेहरू फैलोशिप तथा फिल्म वित्त निगम का निदेशकत्व प्राप्त हुआ। साथ ही साथ असंख्य पाठकों और दर्शकों का सम्मान और स्नेह भी मिला। आधे-अधूरे वास्तव में समकालीन जीवन की विडम्बना के धूपछाँही चित्र प्रस्तुत करता है। इसकी परिस्थितियाँ, मनःस्थितियाँ और पात्र सभी विश्वसनीय और यथार्थपरक हैं, एवं इसे सुचिंतित दृष्टि से रंगोपयुक्त बनाकर संयोजित किया गया है। नाटक की अवधारणा के पीछे सूक्ष्म रंगचेतना निहित है। यह नाटक अभिनेता, नाटककार और निर्देशक सभी की कल्पनाशीलता को अवकाश देता है और नाटक को एक सहयोगी प्रयास के रूप में स्थापित करता है। नाटक इतनी चुस्ती से गढ़ा और बँधा हुआ है कि उसके आलेख और नाटककार की परिकल्पना में हस्तक्षेप काफी मुश्किल एवं जोखिम का काम है। इसकी भाषा, शब्द, भाव-भंगिमाएँ, गति, पात्रों का प्रवेश, दृश्यबंध संबंधी सूचना, रंगनिर्देश, बिम्ब, यहाँ तक कि मौन, विराम, प्रश्नचिह्न और क्रिया-व्यापार भी नाटककार की परिकल्पना के अनुरूप नियोजित हैं। यही कारण है कि किसी भी अनुभवी एवं प्रतिष्ठित निर्देशक ने इस नाटक के आलेख के साथ अधिक छेड़छाड़ नहीं की है और जिन प्रस्तुतियों में अनधिकृत हस्तक्षेप किया गया है वहाँ प्रदर्शन प्रभावी एवं सघन नहीं हुआ है।

2 मार्च 1969 को ओम शिवपुरी निर्देशित आधे-अधूरे का प्रथम प्रदर्शन नाटककार, निर्देशक एवं नाट्य संस्था के कलाकारों के लिए ही नहीं, पूरे हिन्दी रंगमंच के लिए एक ऐतिहासिक घटना सिद्ध हुआ। यह आकस्मिक नहीं कि आधे-

अधूरे के तीन हाऊस-फूल प्रदर्शनों के बाद दिशान्तर ने 72 में अपने 'वीक एण्ड थिएटर' की शुरूआत इसी नाटक से की। इस प्रदर्शन में मोहन राकेश की भी व्यक्तिगत साझेदारी थी। इस प्रस्तुति के प्रारंभिक प्रदर्शनों में बॉक्स सेट, कमरे की दीवार पर लगे एक मुखौटे तथा आरंभ और अंत के लिए ऐसी ध्वनि तरंगों का व्यवहार किया था, जिससे श्यमशान की वीरानगी का अहसास होता था। लेकिन सादगी के आग्रह के कारण बाद में इनका इस्तेमाल छोड़ दिया गया। प्रकाश व्यवस्था में भी सादगी थी और आलेख में निर्देशित दोनों अंकों के आरंभ में केवल स्पॉट्स का उपयोग किया गया। पुरूष की पाँचों भूमिकाओं के लिए सिर्फ ऊपरी वस्त्र को बदला गया और मेकअप का पूर्णतः बहिष्कार किया गया। कुल मिलाकर यह प्रस्तुति नाटककार की मूल-परिकल्पना के सर्वाधिक निकट थी।

21 अप्रैल 1969 को आधे-अधूरे को 'थिएटर यूनिट' ने सत्यदेव दुबे के निर्देशन में प्रस्तुत किया। निर्देशक के अनुसार : "भारत में होनेवाले समस्त हिन्दी नाटकों में आधे-अधूरे आज तक का सर्वाधिक सफल नाटक है।"[29] इस प्रदर्शन की मूल संवेदना और प्रस्तुति के दर्शक पर पड़नेवाले प्रभाव को विश्लेषित करते हुए धनंजय वर्मा ने कहा कि :

"मध्यवर्गीय परिवार की विचलित कर देने वाली स्थितियों के इर्द-गिर्द बुने गए स्त्री-पुरूष संबंधों की यह त्रासदी अपने परिवेश और संदर्भों में देखी होकर भी कहीं बुनियादी संवेदना के लिहाज़ से अपरिचित और बेगानी लग रही थी। .. .. .. अनिश्चय का यह नाटक अपनी प्रस्तुति में इतना निश्चित, लगभग तार्किक और तय लग रहा था कि वह परस्पर न समझे जाने की यातना से अधिक परस्पर अभियोग का नाटक हो गया था। अनुभव स्थितियाँ खिंचती-खिंचती एक बोझिलता के एहसास से भर गई थीं।"[30]

रंग-तकनीक, अभिनय, व्याख्या एवं समग्र प्रभाव संबंधी अपनी सीमाओं के बावजूद इसमें संदेह नहीं कि आधे-अधूरे की यह प्रस्तुति महत्वपूर्ण थी हालाँकि नाटक की समस्त संभावनाओं का अन्वेषण इसमें नहीं हो पाया।

सत्यदेव दुबे के निर्देशन में ही 'थिएटर यूनिट' बम्बई द्वारा आधे-अधूरे को मराठी भाषा में प्रस्तुत किया गया जो आधे-अधूरे के मंचन इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि सिद्ध हुआ। प्रसिद्ध समीक्षक श्री नेमिचन्द्र जैन के अनुसार :

"कई कारणों से उनकी (सत्यदेव दुबे की) मराठी प्रस्तुति, न सिर्फ उन्हीं की हिन्दी प्रस्तुति की तुलना में, बल्कि इस नाटक की अन्य तमाम प्रस्तुतियों की तुलना में ज्यादा सफल और सशक्त हुई। इसमें इस नाटक का वास्तविक कथ्य बड़ी तीव्रता और स्पष्टता से अभिव्यक्त हुआ। .. .. सत्यदेव दुबे की मराठी प्रस्तुति में पहली बार कार्य-व्यापार एक ऐसी सचमुच की गृहस्थी में घटित होता जान पड़ा जिसका जीवंत वातावरण तीखे तनाव से टुकड़े-टुकड़े हो जाने की कगार पर पहुँच चुका है।"[31]

इस प्रस्तुति में निर्देशक के नाटक की त्रासदी को एक परिवार के विघटन की मानवीय परिणति के रूप में दिखाकर, उसे अत्यंत प्रामाणिक और संवेदनशील रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। यद्यपि इस प्रदर्शन में मंच-सज्जा, प्रकाश-योजना, रंग-सामग्री और दृश्यबंध की तुलना में अभिनय पर अधिक बल दिया गया एवं प्रकाश-योजना, ध्वनि व्यवस्था और प्रदर्शन के अन्य अंगों का बहुत रचनात्मक इस्तेमाल नहीं हो पाया फिरभी निर्देशकीय व्याख्या, श्री राम लागू के सहज एवं विश्वसनीय अभिनय तथा गतियाँ और विभिन्न भाव-भंगिमाओं के अत्यंत स्वाभाविक एवं सहज प्रस्तुतीकरण के कारण यह प्रदर्शन उल्लेखनीय रहा।

श्यामानंद जालान के निर्देशन में कलकत्ता की प्रसिद्ध नाट्य-संस्था 'अनामिका' द्वारा आधे-अधूरे के विविध प्रदर्शन इस नाटक के महत्वपूर्ण प्रदर्शनों में गिने जाते हैं। इन प्रस्तुतियों में विभिन्न पात्रों द्वारा संवेदनशील और समन्वित अभिनय ने नाटक के तनाव एवं द्वन्द्व को उभारा, इसके साथ ही नाटक के पार्श्व-प्रभाव, प्रकाश-व्यवस्था एवं मंच परिकल्पना के रचनात्मक समन्वय ने नाटक को विश्वसनीय एवं प्रभावी बनाने का काम किया। यद्यपि इस प्रदर्शन में भी भावनात्मकता की प्रधानता एवं कहीं-कहीं नाटकीय संतुलन के अभाव के कारण प्रस्तुति निर्दोष नहीं बन पाई फिर भी सावित्री को केन्द्र में रखकर एक ही पुरूष के लिए माँ-बेटी को प्रतियोगी रूप में प्रस्तुत करके निर्देशक ने नाटक को एक नया आयाम देने का प्रयास किया।

श्री जालान के निर्देशन में ही अप्रैल 1984 में कलकत्ता की नाट्य संस्था 'पदातिक' ने 'आधे-अधूरे' के चार प्रदर्शन दिल्ली में किये। इन प्रदर्शनों की एक उल्लेखनीय विशेषता जालान जी द्वारा पुरूष पात्रों के जटिल चरित्र का विश्वसनीय उद्घाटन था। महेन्द्रनाथ के चरित्र को एक हारे हुए, दब्बू, लिज़लिजे और रीढ़-विहीन व्यक्ति के साथ-साथ क्रूर दरिंदे के रूप में दर्शाया गया। साथ ही चरित्रों की ऊपरी असमानता और आन्तरिक समानता को जालान ने बड़ी सूक्ष्मता से अभिव्यक्त किया। प्रदर्शन में त्रिकोण का कल्पनाशील उपयोग, एवं नाटकीय मौन का रचनात्मक प्रयोग इस प्रस्तुतीकरण की अन्य विशेषता है। इन प्रदर्शनों में पार्श्व-संगीत का उपयोग नहीं किया गया। कुल मिलाकर अभिनय-स्तर की असमानता और संपूर्ण प्रभाव की दृष्टि से यह प्रदर्शन चाहे ऐतिहासिक न रहे हों, परंतु नाटक एवं इसके पात्रों की मौलिक व्याख्या तथा श्यामानंद जालान के अभिनय निर्देशन की कुशलता के कारण यह प्रस्तुति अवश्य ही विशिष्ट मानी जाएगी।

'संगीत कला मंदिर' कलकत्ता द्वारा 1974 में राजिन्दर नाथ के निर्देशन में प्रस्तुत प्रदर्शन में पाँचों पुरूष भूमिकाएँ अलग-अलग कलाकारों से करवाकर इस नाटक की एक नई व्याख्या प्रस्तुत की, परन्तु श्रेष्ठ आलेख, कल्पनाशील निर्देशन, प्रतिभावान कलाकार और कुशल पार्श्वकर्मियों की रचनात्मक साझेदारी के बावजूद यह प्रस्तुति कोई नया कीर्तिमान स्थापित नहीं कर पायी। प्रस्तुति के प्रभावहीन और दुर्बल होने का एक प्रमुख कारण निर्देशक द्वारा पाँचों पुरूष पात्रों की भूमिकाएँ अलग-

अलग कलाकरों से करवाने का प्रयोग रहा है। जिसके कारण नाटक की बुनियादी नाटकीयता और अन्विति व्यापक रूप से प्रभावित हुई है।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंग मंडल द्वारा अमाल अल्लाना के निर्देशन में सितम्बर 1976 को इस नाटक का सर्वथा मौलिक एवं प्रयोगधर्मी प्रस्तुतीकरण किया गया। चरम यथार्थवादी एवं अतिनाटकीय तत्वों के सामंजस्य द्वारा प्रस्तुति की इस नई शैली के अनुरूप निर्देशिका ने नाट्यालेख में अनेक परिवर्तन भी कि ए। प्रस्तुति के अन्तर्गत कोरस की योजना इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है, जो निर्देशिका के अनुसार सूत्रधार का ही विकसित रूप है, इसी कारण नाटक के आरंभ में वर्णित लम्बी प्रस्तावना को तीन-चार अंशों में विभाजित कर उसे काले-सूट वाले आदमी, कोरस तथा नैरेटर में बाँटकर उसकी एकरसता को कम करके नाटकीयता पैदा करने की कोशिश की गई है। रंग-निर्देशों को भी एकाध जगहों पर कोरस द्वारा बुलवाकर अलगाव की स्थिति को प्रस्तुत किया गया है। तथा विशिष्ट संगीत के माध्यम से पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान को नए ढंग से नियोजित किया गया है। नाटक के केन्द्रीय सरोकार को अभिव्यक्त करने के लिए निर्देशिका ने प्रेम मटियानी द्वारा लिखित एक गीत को भी नाट्यालेख में शामिल कर लिया। दर्शकों के प्रवेश द्वार को भी नाटकीय क्रिया व्यापार का हिस्सा बताकर अभिनेता और दर्शकों में निकटता और अंतरंगता की भावना उत्पन्न करने की कोशिश की गई। स्त्री-पुरूष तथा स्थितियों के संघर्ष और माता-पिता एवं संतान के त्रिकोणात्मक द्वन्द्व को अभिव्यक्त करने के लिए तीन धरातल वाले दृश्यबंध का आयोजन किया गया जिसमें तीन खंभे, पात्रों की आंतरिक मनःस्थितियों के अनुरूप बदरंग और भुरभुरी दीवारें, चरित्रों के अस्थिर चित्त को रेखांकित करने के लिए झूलने वाली आराम-कुर्सी, एवं परिवार की भविष्यहीन नियति को रेखांकित करने के लिए बुझे लैंप का प्रयोग किया गया। मंच-सज्जा और प्रकाश व्यवस्था ने इस नाटक के तनाव को उभारने में काफी सहयोग दिया। दृश्यबंध के फैलाव ने जहाँ एक ओर पात्रों के बीच अलगाव ओर दूरी को प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त किया वहीं नाटक की सघनता और तनाव को अपेक्षाकृत कम भी कर दिया। अंतिम दृश्य में पिता के लौट आने के बाद बिन्नी का झटके में बाहर निकल जाना भी नाटक के अनिश्चित अंत को निश्चित रूप देने की कोशिश का हिस्सा है। परन्तु यह सरलीकरण नाटककार की मूल भावना से मेल नहीं रखता जिसके अनुसार जीवन में मुक्ति का कोई स्थायी हल नहीं है और सभी संबंधों के चक्र में जीने के लिए विवश हैं। समग्रतः आधे-अधूरे की इस प्रयोगधर्मी प्रस्तुति ने एक ओर अपनी मौलिकता और ताज़गी के कारण दर्शकों और समीक्षकों को प्रभावित किया तो दूसरी ओर नाट्यालेख में अनेक परिवर्तन के कारण नाटककार और निर्देशक के संबंध में एक बार पुनःविचार करने पर बाध्य किया।

पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ के भारतीय रंगमंच विभाग द्वारा 1981 में मोहन महर्षि के निर्देशन में इस नाटक का प्रस्तुतीकरण किया गया। जिसमें अनेक मौलिक निर्देशकीय युक्तियों का प्रयोग किया गया। महेन्द्रनाथ के ढुलमुल चरित्र के रेखांकन

के लिए निर्देशक ने झूलनेवाली आराम कुर्सी का नाटकीय प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त जुनेजा को काईंया और चालाक व्यक्ति की बजाय सहानुभूतिपूर्ण और संवेदनशील रूप में प्रस्तुत किया गया। जुनेजा सावित्री के प्रसंग में उन्हें मेज़ के आर-पार बिठाकर उनके तीखे संवादों को वाद-विवाद प्रतियोगिता की तरह पेश करने की युक्ति नवीन होते हुए भी प्रभावी सिद्ध नहीं हुई। प्रकाश परिकल्पना भी काफी प्रभावशाली थी तथा संगीत एवं ध्वनि-प्रभावों ने नाटक को गहराने में पूरी मदद की। निर्देशक ने कई जगह महेन्द्रनाथ- अशोक, बिन्नी-सावित्री और बिन्नी-अशोक को आपस में इस प्रकार देखते हुए दिखाया है जिससे यह प्रतीत होता है कि अभी भी उन सबों के बीच कोई संबंध-सूत्र शेष बचा है। घोर निराशा और भविष्यहीन नियति के दुष्चक्र में फँसे पात्रों वाले इस नाटक में आशा की यह कमज़ोर सी किरण भी अपने आप में कम महत्वपूर्ण नहीं है।

नवम्बर 1982 को मध्यप्रदेश रंगमंडल नाट्यसमारोह के अन्तर्गत अलखनंदन निर्देशित आधे-अधूरे का प्रदर्शन किया गया। यह प्रस्तुति कई अर्थों में महत्वपूर्ण है। काले सूट वाले आदमी का चरित्र नाट्यालेख से पूरी तरह हटा दिया गया और पुरूष पात्रों की विभिन्न भूमिकाएँ अलग-अलग कलाकारों से करवायी गई। इस प्रदर्शन की एक अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि आधे-अधूरे के अधिकांश प्रदर्शनों के विपरीत इसमें सावित्री के चरित्र को सहानुभूतिपूर्वक प्रस्तुत करते हुए उसे प्रमुख और प्रखर बनाने का प्रयास किया गया है। इसके कारण पुरूष पात्रों की भूमिका नाटक में जीवंत और प्रभावशाली ढंग से नहीं उभर पायी है। घर और बाहर के दोहरे दायित्व के बीच फँसी हुई सावित्री के चरित्र को रेखांकित करने के लिए निर्देशक ने आलेख में थोड़ा-सा परिवर्तन भी किया है, अंतिम प्रसंग में सावित्री के एकालाप को अंत में रखकर जुनेजा को सावित्री पर हावी नहीं होने दिया है। इसी प्रकार जुनेजा के मुँह पर फाइलें मारकर सावित्री पूँजीवादी व्यवस्था के प्रतिनिधि चालाक जुनेजा का हस्तक्षेप अस्वीकार करती है। प्रस्तावना को आलाप से स्थानापन्न करके तथा कई जगहों पर वाद्ययंत्रों की बजाय केवल स्वरों से मनःस्थिति को सघन बनाया गया है। मंच परिकल्पना में भी मौलिकता की झलक दिखाई देती है। रसोई तथा गुसलखाने के दृश्य की योजना करके इस प्रस्तुति को एक अभिनव आयाम दिया गया है। चरित्रों को प्रायः धूमिल रंग के कपड़े पहनाये गये हैं जो दृश्यबंध के चटकीले रंग के साथ खो गए हैं। बड़ा सा दृश्यबंध चरित्रों को अपने में समा लेता है तथा कलाकारों का रूपाकार एवं नाटकीय कार्यव्यापार अपेक्षित तीव्रता एवं प्रखरता नहीं प्राप्त कर पाता है। समग्रतः यह प्रस्तुतीकरण नाटक और पात्रों की मौलिक व्याख्या की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है किन्तु नाटकीय प्रभाव और प्रदर्शनीयता की दृष्टि से उतना महत्वपूर्ण नहीं है।

दिल्ली की सक्रिय नाट्य संस्था 'संभव' द्वारा अगस्त 1985 में सुरेश भारद्वाज के निर्देशन में आधे-अधूरे का एक महत्वपूर्ण प्रस्तुतीकरण किया गया। इसमें आधे-अधूरे चरित्रों का संपूर्णता की तलाश में कुढ़ने और छटपटाने की स्थिति को

कलाकारों के सशक्त अभिनय द्वारा प्रामाणिक जीवनानुभव के रूप में प्रस्तुत किया गया। दो धरातलों पर और कई कोनों में बिखरा एवं फैला हुआ दृश्यबंध निम्न मध्यवर्गीय परिवार में बिखरे हुए सामान के जंगल के रूप में दर्शाया गया है। पात्रों के मुखर अभिनय और दर्पण के नाटकीय इस्तेमाल ने इस प्रदर्शन को एक नया आयाम प्रदान किया। पुराने रिकार्ड की अस्पष्ट आवाज़ों से मेल खाता नेपथ्य संगीत संबंधों के अलगाव एवं बिखराव को उकेरता है। कल्पनाशील आलोक-व्यवस्था और प्रदर्शन की संवेदनशीलता के कारण यह प्रस्तुति दर्शकों के मध्य अत्यंत लोकप्रिय एवं चर्चित हुई।

मोहन राकेश नाट्य समारोह के अन्तर्गत 11 और 12 दिसम्बर 1992 को त्रिपुरारि शर्मा के निर्देशन में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, रंगमंडल, द्वारा इस नाटक को एक नए रूप में पेश किया गया। आधे-अधूरे के प्रदर्शन के इतिहास में शायद पहली बार सावित्री को कोमल, मानवीय और संवेदनशील नारी के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया गया। इस प्रयास में तमाम संघर्षों, तनावों और कड़वाहट के बावजूद नाटक के पात्रों में थोड़ी मानवीयता दिखाई गई है। नाटक के चरित्र इस बची-कुची मानवीयता के साथ कई जगहों पर एक दूसरे को सहारा देते नज़र आते हैं। 'घर' को बचाए रखने का आग्रह भी इस प्रस्तुति की एक अन्य विशेषता है। आधुनिक समाज व्यवस्था के बीच एक छोटा सा निम्न मध्यवर्गीय परिवार टूट रहा है फिरभी हर किसी को अपनी ओर वापस खींचता है। 'घर' नाटक के सभी चरित्रों को बाँधता भी है और उसी से मुक्ति की कोशिश भी है। स्वतंत्रता और बंधन, प्रेम और आक्रोश के द्वन्द्व के केन्द्र में 'घर' ही है और यही इस प्रस्तुति की विशेषता भी है। निर्देशिका ने अपनी मंच-व्यवस्था में दृश्यबंध को काले रंग का रखा है। दृश्यबंध एक इकाई न होकर कई हिस्सों में बँटे हुए हैं जो एक घर के भीतर की कटी-छँटी, अलग-थलग ईकाइयों में बँटे परिवार के सदस्यों को द्वीप की भाँति दर्शाता है। प्रकाश-योजना के आरंभ में चरित्र प्रकाशित होते हैं और अंत में सामान का जंगल उभरता है। पार्श्वसंगीत जटिल चरित्रों और उनकी मनःस्थितियों को उभारने में सहायक होता है। कुल मिलाकर यह प्रस्तुति कई जगहों पर कमज़ोर होने के बाद भी आज के निम्न मध्यवर्गीय परिवार के चरित्रों और उसकी त्रासदी को अधिक मानवीय एवं संवेदनशील रूप में प्रस्तुत करती है।

अपनी नाट्य संस्था 'अंक' की ओर से दिनेश ठाकुर ने 4 जुलाई 1995 को बम्बई में इस नाटक का प्रस्तुतीकरण किया। जिसमें इसे एक नई व्याख्या देने की कोशिश की गई। घर के सभी सदस्य एक-दूसरे से चाहे पूरी तरह जुड़े न हों पर कोई न कोई कड़ी उन्हें बाँधे जरूर है जो संकट में उन्हें एक दूसरे के नज़दीक ले आती है। इसमें दिनेश ठाकुर ने दिखाया है कि सावित्री महेन्द्रनाथ को बहुत प्यार करती है और अन्य सभी पुरूषों में वह उसी का एक्सटेंशन ढूँढ़ती है। अपनी इसी व्याख्या के कारण इस प्रस्तुति का अंत कुछ भिन्न है। इसमें जब महेन्द्रनाथ वापस घर

लौटता है तो सावित्री ही उसे सहारा देकर गिरने से बचाती है। बिन्नी माँ के साथ सहानुभूति प्रकट करती है।

पात्रों और नाटक में अनिश्चितता को उभारने के लिए प्रारंभ में पूरी तरह अंधकार रखा गया है। दृश्यबंध में दो एक नई चीजों का प्रयोग है जैसे - पीछे की दीवार पर एयरकंडीशनर का खोल लगाया गया है, जो अब पुरानी फाइलें डम्प करने के काम आता है। मंच के पिछले हिस्से में 'घोड़े पर बैठे राजकुमार' का खिलौना लटकाया गया है। जिससे सावित्री और बिन्नी बार-बार टकराती हैं। यह खिलौना सपने के राजकुमार। संपूर्ण पुरूष की तलाश में भटकती सावित्री एवं बिन्नी की खोज का प्रतीक बन जाता है।

पार्श्व संगीत के रूप में उफनते हुए समुद्र, तेज हवाओं और धड़धड़ाती हुई रेलगाड़ी को गुज़रने की आवाज़ों का नाटकीय इस्तेमाल इस प्रदर्शन में हुआ। दृश्यबंध कुछ ज्यादा ही साफ सुथरा एवं व्यवस्थित प्रतीत होता है। फिरभी महानगरीय परिवेश के घर-परिवार की फोटोग्राफिक तसवीर दिखाने की सृजनात्मक पहल इस प्रस्तुति में हुई।

उपरोक्त कुछ प्रमुख प्रदर्शनों के अलावा विभिन्न भाषाओं में इस नाटक के अनेक प्रदर्शन हुए हैं जिसमें अलग-अलग निर्देशकों ने अपनी विचारधाराओं के अनुसार इसे अलग-अलग रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है। इसका नाट्यालेख अपने आप में इतना सुगठित और स्वतः संपूर्ण है कि यह नए प्रयोगों की गुंजाइश बहुत कम छोड़ता है फिर भी यह केवल राकेश के नाटकों में ही नहीं बल्कि संपूर्ण हिन्दी नाटकों में अंधा-युग के बाद एक मात्र ऐसा मौलिक और चुनौतीपूर्ण नाटक है जिसने प्रत्येक प्रतिभावान निर्देशक और अभिनेता को अपनी ओर आकर्षित किया है। इसके बहुभाषी और विविध प्रदर्शनों ने हिन्दी नाटक और रंगमंच को विकसित और समृद्ध करने में ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया है। इसका महत्व इस बात में है कि यह आज भी समर्थ रंगकर्मियों को नए प्रयोगों और नई व्याख्याओं के लिए प्रेरित करता है और इसकी ताज़गी एवं प्रासंगिकता आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है।

(x) पैर तले की जमीन : निर्देशक एवं समीक्षक की नज़र से :

रंजीत कपूर : "x x x अभी आलेख ही नहीं है तो निर्देशन क्या ? वही शून्य की ओर या अस्तित्व बचाने के लिए बाज़ीगरों की तरह अपनी टोपी में से कबूतर खरगोश या कुछ और निकालूँ ? लेकिन क्या ? .. .. और अगर हाथी भी निकालूँ तो उसे कोई स्वीकार कर पाएगा ?.. . फ़ेलिनी जैसा सार्मथ्य नहीं है मुझमें, कि अपने 'क्रिएटिव मॉनोपॉज़' की इस जानलेवा उथल-पुथल को .. .. (सुप्रसिद्ध फिल्म - सं.) की तरह प्रस्तुत करके शून्य को सार्थक और जीवन्त बना दूँ। सो अलविदा, निर्देशकीय भी। अलविदा ।"[32]

प्रतिमा अग्रवाल : "'पैर तले की ज़मीन' भी आधुनिक जीवन की विसंगति, अवसाद एवं घुटन को लेकर लिखा गया नाटक है। इस नाटक की मूल प्रवृत्ति अस्तित्ववादी है। परिवेश घर से बाहर कश्मीर में एक टूरिस्ट क्लब है। पात्र सब अलग-अलग है तथापि नियति ने उस एक दिन के लिए उन्हें एक स्थल पर ला रखा है और अचानक भयंकर बाढ़ के कारण टूरिस्ट क्लब को शहर से जोड़नेवाला पुल टूटने लगता है और उनका संपर्क बाहर की दुनिया से कट जाता है। आसन्न मृत्यु की छाया में उन पात्रों की परिवर्तित मनोवृत्ति का बड़ा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं चित्रण राकेश ने किया है। कुछेक घंटों बाद बाढ़ के पानी के कम होने की सूचना मिलती है, टेलीफोन की घंटी बज उठती है, जीवन के बचने का आश्वासन मिलता है, सब पुनः पहले की मनःस्थिति को प्राप्त होते हैं।

राकेश इस नाटक को अपने जीवन काल में पूरा नहीं कर सके थे। जिस दिन उनकी मृत्यु हुई थी उस दिन भी वे इस पर काम कर रहे थे, टाइप राइटर पर लगे पृष्ठ पर इसी के संवाद लिखे जा रहे थे। उनकी मृत्यु के बाद, उनकी डायरी में मिले नोटों के आधार पर उनके अभिन्न मित्र कमलेश्वर ने इसे पूरा किया। पहला अंक स्वयं राकेश लिख गए थे, दूसरा उन्होंने लिखा। यह कहना बड़ा कठिन है कि राकेश स्वयं इस नाटक को पूरा करते तो इसका स्वरूप क्या होता। भाषा के स्तर पर राकेश जो कार्य कर रहे थे, उसका वे अपनी नवीनतम कृति में क्या उपयोग करते, पता नहीं। नाटक जैसा बन पड़ा है उसमें वह कोई विशेष प्रभाव नहीं छोड़ता। कुछेक प्रस्तुतियाँ हुई है तथापि वे प्रभावहीन रहीं।"[33]

(xi) 'पैर तले की जमीन' की प्रस्तुतियों का विश्लेषण :

'पैर तले की जमीन' राकेश का अंतिम और अपूर्ण नाटक है जिसे बाद में उनके मित्र कमलेश्वर ने पूरा किया। राजिन्दर नाथ के निर्देशन में दिल्ली की महत्वपूर्ण नाट्य संस्था 'अभियान' द्वारा 3 दिसम्बर 1974 को इस नाटक की सर्वप्रथम प्रस्तुति की गई लेकिन प्रतिभाशाली कलाकार कल्पनाशील निर्देशक एवं लगनशील पार्श्वकर्मी के सहयोगी प्रयासों के बावजूद यह प्रस्तुति असंतुलित, शिथिल और निर्जीव सिद्ध हुई। दीनानाथ और विश्वमोहन बडोला जैसे कुछ कलाकारों के अभिनय को छोड़कर लगभग पूरा प्रदर्शन ही असंगठित और कमज़ोर था। बाढ़ के अंतिम दृश्य में तो अराजक प्रकाश-व्यवस्था, कल्पनाहीन संयोजन और प्रभावहीन प्रवेश-स्थान और बेवजह की उठा-पटक ने प्रदर्शन को काफी कमज़ोर कर दिया। कलकत्ता में हिन्दी नाट्योत्सव 1974 के अन्तर्गत होनेवाले प्रदर्शन में इसमें कुछ परिवर्तन करने का प्रयास किया गया। नगाड़े की ध्वनि के साथ बाढ़ के दृश्य को मंचित करने की कोशिश की गई लेकिन यह मौलिक रंग-युक्ति भी असरदार साबित नहीं हुई। निर्देशक के प्रयास के बावजूद प्रस्तुति में वह मृत्यु-भय, संत्रास तथा मनोवैज्ञानिक उलझन उभरकर सामने नहीं आई जो नाट्यालेख का केन्द्रीय अन्तर्द्वन्द्व है।

अभियान के प्रथम प्रदर्शन की असफलता ने बहुत समय तक प्रबुद्ध निर्देशकों और रंगकर्मियों को इस नाटक से दूर रखा फिर भी चंडीगढ़ की सक्रिय नाट्य संस्था 'अमिनेत' द्वारा 1979 में अतुलवीर अरोड़ा के निर्देशन में इसे प्रस्तुत किया गया। इस प्रस्तुति में नाट्यालेख में कई जगह निर्देशक ने संपादन, संशोधन और पुनर्लेखन किया। इसका मुख्य कारण निर्देशक के अनुसार नाट्यालेख का 'उखड़ा-उखड़ा, बेतरतीब और अधूरा' होना था। अतः निर्देशक ने नाट्यालेख में मौज़ूद फालतू गतिविधियों को निकाल दिया है। मसलन दूसरे अनुवर्तन में प्रयुक्त सामूहिक आत्महत्या के प्रसंग को पूरी तरह काट दिया गया। अनुवर्तनों के भाषायी फर्क में समानता लाने का प्रयास किया गया एवं संवादों की लय मोहन राकेश की लय के यथासंभव नज़दीक रखने की कोशिश की गई। पात्रों के बेवज़ह आवागमन को भी अधिक सार्थक और नाटकीय बनाया गया और नाटक में इस्तेमाल की गई लक्फ़ाजी और फिकरेबाजी को बहुत कम कर दिया गया। दरअसल नाटककार के मूल फॉर्म और पात्रों को सुरक्षित रखते हुए यह प्रस्तुति नाटक के पूर्णतः संशोधित, परिवर्तित एवं पुनर्लिखित रूप का मंचन था न कि नाटककार के मूल आलेख का लेकिन आलेख के परिवर्तन के बावजूद प्रतीकात्मक यथार्थवादी दृश्यबंध, असरदार ध्वनि-प्रभाव और संगीत तथा कल्पनापूर्ण प्रकाश-योजना के समन्वय से यह प्रस्तुति गंभीर एवं सफल रही। आरामकुर्सी का इस्तेमाल आत्मीय एवं तनावपूर्ण प्रसंगों को अभिव्यक्त करने में सफल सिद्ध हुआ ध्वनि प्रभाव और संगीत भी अत्यंत प्रभावशाली रहे सिवाय बाढ़ में बहते लोगों का अंतिम दृश्य। बादलों की गड़गड़ाहट और बिजली गिरने की आवाज़ के लिए ऑडिटोरियम के पीछे से 'विंडमशीन' और 'थंडर शीट' का

प्रयोग करके भयानक बारिश और तूफान के प्रभाव को साकार किया गया। नाटक के वृत्ताकार फार्म के अनुरूप निर्देशक ने समस्त मंचीय कार्य-व्यापर को वृत्तों में ही बाँधने की कोशिश की। संपूर्ण नाटक में सिर्फ नीरा और रीता दो ही ऐसे पात्र हैं जो समस्याओं के वृत्त को तोड़ते नज़र आते हैं। इसलिए उन्हें वृत्तों से काटकर अलग दिशा और गति में प्रस्तुत करना निर्देशक की रंगमंचीय समझ और प्रौढ़ता को दर्शाता है। समग्रतः नाटक का यह प्रस्तुतीकरण कल्पनाशील निर्देशन, मौलिक व्याख्या और आलेख में किए गए सोद्देश्य परिवर्तन एवं संशोधन तथा नाटक के प्रशंसनीय प्रदर्शन के कारण निश्चय हो उल्लेखनीय माना जाएगा।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय 'रंगमंडल' द्वारा आयोजित मोहन राकेश नाट्य समारोह के अन्तर्गत रंजीत कपूर के निर्देशन में दिसम्बर 1992 को इस नाटक को अभिमंचित किया गया। मंचन से पहले स्वयं निर्देशक ने इस नाटक को पूरा किया। नक्काशीदार फर्नीचर और खूबसूरत टाइल्स से बने दृश्यबंध, कल्पनाशील प्रकाश-योजना एवं स्वयं रंजीत कपूर के प्रभावशाली संगीत ने दर्शकों को काफी प्रभावित किया। आलेख के स्तर पर निर्देशक ने राकेश के अधिकाधिक करीब रहने का प्रयास किया लेकिन नाटक के उत्तरार्ध में प्रदर्शन को रोचक बनाने के लिए बलात्कार, हत्या, आत्महत्या एवं हास्य के प्रसंगों का नियोजन इस नाटक को 'थ्रिलर' जैसा बना देता है। कुल मिलाकर आकर्षक दृश्यों, रोचक प्रसंगों, तकनीकी कौशल निर्देशकीय प्रखरता एवं जीवंत अभिनय के बावजूद नाट्यालेख की तरह ही यह प्रस्तुति भी आधी-अधूरी सी ही रही और गहन प्रभाव छोड़ने में समर्थ नहीं हुई।

'अभियान' दिल्ली, 'अभिनेत' चंडीगढ़ और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय 'रंगमंच' - दिल्ली जैसी महत्वूपर्ण नाट्य संस्थाओं के अलावा अन्य नाट्य-संस्थाओं अथवा प्रतिष्ठित निर्देशकों ने इस नाटक को प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया है। इन तीनों संस्थाओं के प्रदर्शन भी नाट्यालेख की श्रेष्ठता की बजाय नाटककार को श्रद्धांजली देने तथा अन्य कारणों से ही हुए। अपनी कुछेक विशेषताओं के बावजूद यह नाट्यालेख राकेश की नाट्यप्रतिभा के किसी नए आयाम का उद्घाटन नहीं करता और मंचन की दृष्टि में भी यह कमजोर एवं असफल रचना ही सिद्ध हुई। शायद कभी भविष्य में नाटककार द्वारा अपेक्षित अयथार्थवादी दृश्यांकन की चुनौती एवं सृजनात्मक निर्देशन के द्वारा इस नाटक का कोई सफल प्रदर्शन हो सके।

संदर्भ सूची :

1. आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश (लेखकीय) : स्मारिका : मोहन राकेश नाट्य समारोह (3-20 दिसम्बर 1992) : पृ. 35
2. स्मारिका : मोहन राकेश नाट्य समारोह (3-20 दिसम्बर 1992) : पृ. 35 - 36
3. इनैक्ट : अंक 73-74 में प्रकाशित अंग्रेजी लेख से अनूदित
4. नटरंग (संपादक : नेमिचन्द्र जैन) अंक - 21, पृ. 28
5. मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक : (संपादक : नेमिचन्द्र जैन), पृ. 117 से उद्धृत
6. उपरोक्त : पृ.111-114
7. उपरोक्त : पृ.118-119
8. उपरोक्त : पृ.120-121
9. उपरोक्त : पृ.115-116
10. मोहन राकेश की रंगदृष्टि : जगदीश शर्मा
11. नटरंग : वर्ष - 2, पृ. 10
12. आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश (इस संस्करण तक .. ..), पृ. 9
13. लहरों के राजहंस : मोहन राकेश (लेखकीय) : स्मारिका : मोहन राकेश नाट्य समारोह (3-20 दिसम्बर-1992), पृ. 40
14. स्मारिका : मोहन राकेश नाट्य समारोह (3-20 दिसम्बर-1992), पृ. 40-41
15. इनैक्ट : अंक 73-74 में प्रकाशित अंग्रेजी लेख से अनूदित
16. लहरों के राजहंस के द्वितीय संस्करण की भूमिका : सुरेश अवस्थी
17. मोहन राकेश : प्रतिभा अग्रवाल, पृ. 61-63
18. नटरंग (संपादक : नेमिचन्द्र जैन) अंक - 21, पृ. 30-31
19. राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा प्रस्तुत 'लहरों के राजहंस' के परिचय पत्र में प्रकाशित 'लेखक का वक्तव्य' से उद्धृत.
20. मोहन राकेश : रंग शिल्प और प्रदर्शन, जयदेव तनेजा, पृ. 177
21. आधे-अधूरे : मोहन राकेश (लेखकीय) : स्मारिका : मोहन राकेश नाट्य समारोह (3-20 दिसम्बर-1992), पृ. 37
22. स्मारिका : मोहन राकेश नाट्य समारोह (3-20 दिसम्बर-1992), पृ. 38

23.आधे-अधूरे : निदेशक का वक्तव्य : ओम शिवपुरी

24.इनैक्ट : अंक 73-74 में प्रकाशित अंग्रेजी लेख से अनूदित

25.1989 में नेहरू जन्म शताब्दी नाट्य समारोह के अवसर पर प्रकाशित स्मारिका से, अंग्रेजी से अनूदित.

26.मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक : (संपादक : नेमिचन्द्र जैन) , पृ. 340-342 से उद्धृत.

27.आम जिंदगी का नाटक : सुशील चौधरी, नटरंग : अंक-21 पृ. 24-25

28.अमाल अल्लाना के निर्देशन में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, रंगमंडल द्वारा 1976 में प्रस्तुत नाटक की स्मारिका से उद्धृत

29.Till today Adhe Adhure is the most successful amongst the plays produced in Hindi anywhere in India.

- Times Weekly : December 10-1972 , P. 7

30.पूर्वग्रह : मई - जून 1977 - पृ. 50

31.उपरोक्त : पृ. 46

32.स्मारिका : मोहन राकेश नाट्य समारोह (3-20 दिसम्बर 1992) पृ. 39

33.मोहन राकेश : प्रतिभा अग्रवाल, पृ. 54-55